ओ३म् ॥

मानवधर्ममीमांसाभूमिका ॥

लोकोपकारमनीषया संस्कृतभाषया लोकभाषया च

भीमसेनशर्मणा

व्याख्याता

सरस्वतीयन्त्रालये मुद्रापयित्वा प्रकाशिता

प्रयाग

इस की रजिष्टरी कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं

संवत् १९४९ ज्येष्ठ

प्रथमवार १२००

मूल्य २)

डाकव्यय =)॥

मानवधर्ममीमांसाभूमिकायाविषयसूचीपत्रम्॥

पृ० से पृष्ठ तक विषय ।

१——७——भाष्यबनाने का प्रयोजनरूप प्रस्ताव ।

८—१३——मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा ।

१४—२४—वे मनु कौन थे जिन्हों ने इस धर्मशास्त्र का उपदेश किया ।

२५—३६——कब और किस ने इस मनुस्मृति को पुस्तकाकार में बनाया ।

३७—४२——सामान्यकर शास्त्र के विषय का विचार ।

४३—५२——धर्मशब्द के अर्थ का विचार ।

५३—६१——विधि, निषेध, अर्थवाद और सिद्धानुवाद का विचार ।

६२—७६—धर्म के लक्षणों की परस्पर उत्तमता निकृष्टता और मध्यमता का विचार।

७७—८८ सृष्टिप्रकरण का सामान्य विचार ।

८९—९९——सृष्टिप्रसङ्ग में विरोध कहने वालों का समाधान ।

१००—१०६—मानसी और मैथुनी सृष्टि का भेद ।

१०७—११५—रचना के क्रम का विचार ।

११६—१२५—प्रथमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।

१२६—१३०—गर्भाधानादि संस्कारों का विचार ।

१३१—१३८—द्वितीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।

१३९—१५०—विवाहनियोग और पुनर्विवाहों का विचार ।

१५१—१९४—पञ्चमहायज्ञ और श्राद्धतर्पण का विशेष विचार ।

१५३—१६४—श्राद्ध में पूज्य देव और पितर कौन हैं? श्राद्ध नित्य कर्म है वा नैमित्तिक?।

१६५—१८६—श्राद्धतर्पणविषय में अनेक शङ्काओं का समाधान ।

१८७—१९४—पिण्डदान और अन्य के किये कर्म का फल अन्य को पहुंचता है वा नहीं इत्यादि विचार ।

१९५—१९९—तृतीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।

२००—२०३—अनध्याय का विचार ।

२०४—२०९—दानधर्म का विवेचन ।

२१०—२१२—मूर्त्तिपूजा का विचार ।

२१३—२२२—चतुर्थाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार ।

२२३—२३४—भक्ष्याऽभक्ष्य का विचार ।

२३५–२४७–मांस के खाने न खाने का विचार।
२४८–२५४–सूतकशुद्धि और द्रव्यशुद्धि का विचार।
२५५–२६४–पञ्चमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार।
२६५–२६८–वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विचार।
२६९–२७७–राजधर्म विचार।
२७८–२८२–सप्तमाष्टमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा।
२८३–२८९–दायभाग विचार।
२९०–२९७–सपिण्डता और स्त्रीदाय का विचार
२९८–३०६–नवमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार।
३०७–३३१–ब्राह्मणादि वर्ण जन्म से वा कर्मों से किस प्रकार मानने चाहिये इत्यादि का विचार।
३३२–३३५–वर्णसङ्करों का विचार।
३३६–३४१–आपद्धर्म का विचार।
३४२–३४६–दशवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा।
३४७–३५२–प्रायश्चित्त का विचार।
३५३–३५८–ग्यारहवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा।
३५९–३६४–कर्मफल और मुक्ति का विचार।

इति विषयसूचीपत्रम् ॥

ओ३म्

प्रस्तावना ॥

प्रथम सब सज्जन महाशयों को यह जता देना उचित समझा गया कि इस मनुस्मृति पर भाष्य बनाने की क्या आवश्यकता थी क्योंकि पहिले तो इस पुस्तक की बनावट ही ऐसी कठिन नहीं है जिस को बड़े२ पण्डित ही समझते हों और साधारण लोग न जान सकते हों द्वितीय यदि थोड़ा भी संस्कृत न जानने वालों के लिये कुछ कठिन भी माना जावे तो संस्कृत के सात टीका आज कल प्रचरित हैं उन का नागरी, फारसी, अङ्गरेजी, और बँगलादि में भी अनुवाद हो गया है जिस से सब कोई इस का आशय जान सकते हैं फिर एक नया भाष्य और बना कर पोथा बढ़ाना व्यर्थ है ॥

इस का उत्तर देने से पहिले यह अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि संसार की दशा सदा लौट पौट होती रहती है और सब प्राणीमात्र सदा अपने२ लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के हटाने का उपाय करते रहते हैं परन्तु अविद्या वा अज्ञान ऐसा व्याप्त है कि वह पण्डितों और अच्छे२ नामी विद्वानों को भी नहीं छोड़ता। अनेक लोग अपने वा अन्य सर्वसाधारण के लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के हटाने का उपाय समझ कर जिस काम का प्रारम्भ करते हैं वही कभी२ कहीं२ सुख का नाशक और दुःख का बढ़ाने वाला हो जाता है ॥

अर्थात् संसार में दुःखप्राप्ति का उपाय कोई नहीं करता तो भी दुःख अवश्य भोगने पड़ते हैं इस का मूल कारण अविद्या है। अज्ञान बड़ा प्रबल है इस का प्रवेश दूर तक होता वा हो रहा है अर्थात् लोक में जो ज्ञानी माने जाते हैं उन में भी वास्तविक ज्ञानी बहुत कम होते हैं और साधारण लोग जिन को अज्ञानी समझते हैं उन में भी कोई ज्ञानी होता है। यह मेरा कथन सिद्धानुवाद परक है किन्तु किसी प्रकार के विधि निषेध से सम्बन्ध नहीं रखता। इस लिखने से मेरा अभिप्राय यह है कि मनुस्मृति पर जितने भाष्य आज तक बने हैं उन सब भाष्य कर्त्ताओं ने गूढाशय खोलने के लिये यथाशक्ति उद्योग किया है और उन का विचार यह कदापि नहीं हो सकता कि हम किसी प्रकार देश वा आर्यसमुदाय की हानि करें तो भी अविद्या के प्रविष्ट रहने से और समय के बदल जाने से अब वे भाष्य वेदानुयायियों के लिये ठीक२ विशेष उपकारी नहीं रहे। किन्तु उन से अब किसी प्रकार धर्म में बाधा पड़ने लगी।

सृष्टि क्रम की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि किसी एकसमय, अवस्था, वा दशा में मनुष्य के लिये जो वस्तु उपकारी वा अनुकूल बनाया गया वही

समयान्तर अवस्थान्तर और दशान्तर में जाकर अपकारी वा प्रतिकूल हो जाता है। अर्थात् अनेक विषय वा वस्तु सब समय, अवस्था और दशाओं में सब के अनुकूल नहीं रहते इस से यह अभिप्राय नहीं है कि सार्वत्रिक हितकारी कोई वस्तु वा विषय है ही नहीं, किन्तु आशय यह है कि प्रायः पदार्थ वा विषय ऐसे हैं जिन में हेरफेर होता रहता है। इस में दृष्टान्त यह है कि शीत समय में रुई आदि के वा ऊन के वस्त्र तथा अग्नि का सेवन हितकारी उपकारी वा अनुकूल होता है वही सब ग्रीष्म ऋतु में अनुपकारी प्रतिकूल होजाता है। इसी प्रकार बाल्यावस्था में जो बालक्रीड़ादि उपकारी वा अनुकूल प्रतीत होती है वही युवावस्था वा वृद्धावस्था में अन्य कार्यों में आसक्तपुरुष को प्रतिकूल जान पड़ती है। इस दृष्टान्त का सारांश यह है कि लौकिक व्यवहारों में (जिन की धर्मशास्त्रों में व्यवस्था लिखी है वा उन का लौकिक व्यवहार की व्यवस्था करना ही विषय होने से लिखी जाती है) हेर फेर होता है जो व्यवहार कभी अनुकूल है वह कभी प्रतिकूल भी होजाता है। परन्तु सनातन वैदिकधर्म कभी अधर्म नहीं हो सकता इसी लिये वह सनातन कहाता है। अर्थात् परमेश्वर की सनातन आज्ञा कभी नहीं बदलती किन्तु मनुष्य के काम में हेर फेर हो सकता है ॥

और जिस समय जिस से जिस को सुख मिले वह उस समय उस के अनुकूल ही माना जाता है और मानना भी ऐसा ही चाहिये। यह तो दृष्टान्त रहा ॥

अब दार्ष्टान्त में ध्यान दीजिये कि जब तक इस आर्यावर्त्त देश में वेदमतानुयायी राजा रहे वेद विरोधी कोई मत प्रबल रहा नहीं तब तक वेद की वा तदनुकूल धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं को निर्विवाद मानते थे क्योंकि उस समय विवाद वा युक्ति लड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं थी तब निर्विवाद मानना ही अनुकूल वा हितकारी था। परन्तु अब वह समय तथा हम लोगों की दशा नहीं रही अर्थात् अब वेद मत के द्वेषी अनेक मत शत्रुरूप से उपस्थित हैं। अब हम को वेदमत के सत्य ठहराने के कारण वा युक्तियां खोजने पड़ीं, कोई धर्म सम्बन्धी विषय बिना विवाद अब नहीं माना जाता ॥

तथा आज तक जो टीकाकार इस मनुस्मृति पर हुए हैं उन्हों से इस का वैसा गौरव भी नहीं हुआ जैसी कि इस की प्रतिष्ठा है। यह पुस्तक आर्य (हिन्दु) मात्र में अत्यन्त प्रतिष्ठित है जब कोई वेद विरोधी कहे कि आर्यधर्म में गोहत्या बड़ा अधर्म है तो मनुस्मृति के अ० ३। ३ में गोहत्या की क्यों आज्ञा है? यह सुनकर आर्यों को लज्जित वा चुप होने पड़ता है यह नहीं कह सकते कि वह श्लोक क्षेपक है वा उस का उलटा बेसमझी से अर्थ किया गया है क्योंकि ऐसी योग्यता सबको नहीं होती जो सत्यासत्य की छान बीन कर सकें। यह उदाहरणमात्र दिया ऐसे अनेक दोष वर्त्तमान टीकाओं से इस ग्रन्थ में लग गये हैं। आशा है कि इस मेरे टीका से दोष मिट जांयगे और कोई वेद विरोधी फिर आक्षेप न कर सकेगा ॥

द्वितीय कारणवाद की आवश्यकता विशेष है किसी प्रकार का विधि वा निषेध किया गया तो वहां टीकाकारों को दिखाना चाहिये कि यह विधि वा निषेध क्यों किया गया ? ऐसा करने से क्या लाभ और न करने से क्या हानि होगी इस के विना ऊट पटाङ्ग वा फीकापन प्रतीत होता है इस समय मनुष्योंके चित्त में कारणवाद अच्छे प्रकार घुसा है कि यह काम इस प्रकार क्यों करना वा न करना चाहिये ? करने से क्या लाभ वा क्या हानि है ।

तृतीय इस पुस्तक में पीछे २ अनेक लोगों ने ऐसी बातें मिला दी हैं कि जिस से कर्त्तव्य धर्म में बड़ी बाधा पड़ती है उन का निर्णय प्रमाण पूर्वक किसी टीकाकार ने नहीं किया इस से इस देश की बड़ी हानि हुई और हो रही है । इस का विचार आगे उपोद्घात में किया गया है ।

और एक बात यह भी विचारणीय है कि यद्यपि यह ग्रन्थ सुगम सरल संस्कृत भाषा में पद्यरूप से बना है तो भी आर्ष अर्थात् ऋषिप्रणीत होने से इस का आशय गूढ़ है । अब तक बने हुए टीकाओं में ठीक २ आशय नहीं खोला गया । प्रयोजन यह है कि मानवधर्मशास्त्र का अभिप्राय ठीक २ बताया जाय कि अमुक २ विषय के इस प्रकार सेवन करने से ऐसा २ लाभ वा सुख मिल सकता है सो ठीक२ नहीं बताया गया । द्वितीय जितना कुछ लोगों ने लिखा भी है उस का ठीक २ अनुवाद आर्यभाषा में नहीं हुआ जिस से सर्वसाधारण का उपकार होता किसी एक दो टीका का भाषान्तर हुआ है उस के दोष भी नागरी उर्दू आदि में होकर सब में फैल गये इन की निवृत्ति इस भाष्य से हो जायगी इत्यादि प्रकार की अनेक आवश्यकता समझ कर मैंने इस कार्य का प्रारम्भ किया है ।

और यदि किसी अंश में वर्त्तमान भाष्यों को उपकारी भी मान लिया जाय तो वे सब के लिये वैसे उपकारी नहीं हो सकते जैसे कि होने चाहिये क्योंकि सब विषय सब के उपकारी नहीं होते अर्थात् मांस खानेकी पुष्टि दिखाना मांसाहारी हिंसक अधर्मियों को अनुकूल जान पड़ेगा परन्तु मांस वर्जी धर्मात्माओं को प्रतिकूल वा अनुपकारी होगा परन्तु विशेष कर वेद धर्म को मानने वा वृद्धि चाहने वाले देशहितैषी सब धर्मात्मा लोगों के लिये मेरा भाष्य उपकारी होगा उन के लिये वर्त्तमान भाष्य वास्तव में उपकारी नहीं हैं यह अर्थापत्ति से सिद्ध होगया ॥

और सनातन से यह परिपाटी प्रवृत्त है और सब विद्वान् लोग मानते भी हैं कि पहिले बने हुये वस्तुओं की अपेक्षा नवीन वस्तु इस लिये अच्छा होता और माना जाता है कि वह पहिले में वर्त्तमान न्यूनताओं को देख कर उन को हटाने के लिये और पहिले बने वस्तु से जो २ हानि दीख पड़ती है उस की निवृत्ति के लिये बनाया जाता है और वास्तव में यदि बनाने वाला विचारशील हो तो

पहिले की अपेक्षा नवीन बना वस्तु सब के लिये अत्यन्त उपकारी होता है क्योंकि वह सामयिक मनुष्यों की अभिलाषाओं को देख कर उन की इच्छा पूर्ति करने और सन्तोष कराने के लिये ही बनाया जाता है। यद्यपि यह दृष्टान्त भाष्य बनाने में ठीक २ नहीं घटता क्योंकि भाष्य कोई नवीन वस्तु नहीं तो भी इतने अंश में अवश्य घटता है कि मनुधर्मशास्त्र पर जैसे विचार की इस समय आवश्यकता है वैसा कोई भाष्य नहीं बना। जो भाष्य बने हैं वे अपने २ समय के अनुसार बने हैं। इस लिये मुझ को इस शास्त्र पर भाष्य बनाने की आवश्यकता हुई और अनेक महाशयों ने मुझ को सम्मति भी दी कि इस पुस्तक पर ऐसा भाष्य अवश्य बनाना चाहिये जिस से सत्यासत्य की छान बीन होजावे और इस के प्रमाण से वेदोक्त आर्यधर्म में जो कुछ धब्बा लगते हैं उन को छुड़ाया जावे। इत्यादि विचार से मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूं।

मैं इस पुस्तक पर जो कुछ व्यवस्था लिखूं उस को कोई महाशय हठ पूर्वक न समझें किन्तु सत्य वेदमत की पुष्टि करने के लिये मैं अपनी सम्मतिमात्र लिखता हूं। यदि कोई विद्वान् लोग मेरी सम्मति को देख कर कहीं अनुचित प्रतीत करावें वा मुझ को ही पीछे किसी प्रकार की भूल प्रतीत होगी तो निस्संदेह आग्रह छोड़ कर उस को अगली आवृत्ति में सुधार दूंगा। संसार में अज्ञानी लोगों की यही चाल है कि वे अपनी बात पर सदा हठ करते हैं जो बात एक वार मुख से वा लेखनी द्वारा निकल जावे उस को सदा सत्य ठहराने के उद्योगमें लगे रहते हैं। वह बात भले ही असत्य हो। पर विद्वान् लोगों की यह चाल नहीं है कि वे हठ करें। मैंने भी विद्वानों का सङ्ग वा कुछ सेवा की है इस से मेरा भी विचार हठ की ओर नहीं है। और सब मनुष्यजातिमात्र का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि सदा सत्य का जय और असत्य का पराजय करने में उद्योग किया करें। मेरा विचार यह कदापि नहीं है कि मैं इस धर्मशास्त्र के किसी विषय पर खण्डन मण्डन ऐसा करूं जिस से उस विषय के मानने वालों को किसी प्रकार का दुःख पहुंचे किन्तु जिस विषय को मैं वेदविरुद्ध समझता हूं वा समझूंगा उस पर वैसी सम्मति अवश्य लिखूंगा। यदि कोई महाशय मुझे उस विषय का वेदानुकूल होना समझा देंगे तो अवश्य मान लूंगा और अपनी सम्मति को स्वयमेव लौट दूंगा।

मैं वेद का सिद्धान्त सत्य ही समझता हूं कि जो सत्य है वही वेद का सिद्धान्त है। इस में केवल विवाद इतना बाकी रह जाता है कि सत्य का लक्षण क्या है? तो विचार करने से ठीक यही ठहरता है कि जो सदा एकरस बना रहे जिस के स्वरूप में कभी भेद नहीं पड़ता वही सत्य है। ऐसा पदार्थ मुख्य तो एक परमात्मा है जो सदा एकरस ही बना रहता है। तथा अन्य भी जो पदार्थ स्वरूप से बनते विगड़ते नहीं वे भी सत्य ही माने जाते हैं। और सनातनधर्म

भी सत्य इसी लिये कहाता है कि वह सदा कर्त्तव्य ही है उस का सेवन कभी किसी को हानि कारक नहीं होता। और धर्मसम्बन्धी जो २ व्यवहार देश, काल, वस्तु भेद से तथा समय के बदल जाने से अनुपकारी होजाते हैं वे यद्यपि सत्य शब्द के अर्थानुसार सत्य नहीं हैं तो भी असत्य में सत्य रहताही है जैसे धर्म में अधर्म और अधर्म में धर्म रहता है अर्थात् अनेकस्थलों में दोनों विषय मिले रहते हैं वहां जिस समय जिस कर्त्तव्य से उपकार वा सुख अधिक वा प्रबल माना जाता है वही सत्य और जिस से निर्बल वा न्यून उपकार हो वह असत्य समझा जाता है। इसी विचार से किन्हीं महात्मा ने सत्य का लक्षण यह भी किया है कि–

सत्यं हि तद्भूतहितं यदेव ॥

अर्थात् जिस से प्राणियों का हित वा उपकार हो वही सत्य है। मैं सब प्रकार से सत्य को आगे करके भाष्य करूंगा और अपनी सम्मति प्रकट करूंगा मैं इस पुस्तक सम्बन्धी विषयों पर अपनी सम्मति लिख कर विचारपक्ष खड़ा करता हूं सब सज्जन विद्वान् लोग विचार करें कि यह लेख सत्य है वा नहीं और जैसी मैं प्रतिज्ञा करता हूं वैसा है वा नहीं परन्तु कोई महाशय अपने चित्त में किसी प्रकार का पक्षपात न रक्खें किसी एक पक्ष के आग्रही बन कर देखने से वह बात प्राप्त न हो गी जो मेरे लिखने का अभिप्राय है अर्थात् मेरा अभिप्राय यही है कि इस धर्मशास्त्र से प्राणियों का हित वा उपकार हो किन्तु यह विचार मेरा नहीं कि किसी एक मत की मैं पुष्टि करूं परन्तु मेरा प्रयोजन यह अवश्य है कि वेदमत की पुष्टि इस से हो क्योंकि प्रसिद्धि में यह लिखा भी है कि वेद के अनुकूल मानवधर्मशास्त्र बनाया गया वेद की आज्ञाओं का व्याख्यान प्रकारान्तर से बना है। इसी बात को मैं भी पुष्ट करना चाहता हूं।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्विशेषवर्णस्य सामान्यस्य वा कश्चिदध्ययनाध्यापनादिरहिंसासत्यादिर्वा धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः परितः सर्वत उपदिष्टो न तु कुत्रचिल्लिखितः स सर्वो धर्मो वेदेऽभिहितः कथितोऽस्ति कुतः स वेदः सर्वज्ञानमयः सर्वविद्यानां स्वरूपएवास्ति। वेदादेव सर्वा विद्या निस्सृता निस्सरन्ति निस्सरिष्यन्ति च। अनेनैतदुक्तं भवति—मनुना यत्किमप्युक्तं स सर्वो धर्म एवास्ति नतु क्वाप्यधर्म उक्तइति। तस्य च धर्मस्य वेदएव मूलम्। एवं समूलस्य

धर्मस्य व्याख्यानं मयापि कार्यमिति मनस्याधाय भाष्यकरणोद्योगमहमकार्षम् । सोऽयं ममाल्पशक्तेः प्रयासः सर्वस्वामिपरमात्मकृपातः सफलो लोकानामुपकारको भवत्वित्याशासे ॥

भा०—मनुस्मृति पुस्तक में स्वयमेव प्रतिज्ञा लिखी है कि महर्षि महात्मा धर्ममूर्त्ति मनु महाराज ने जो कुछ ब्राह्मणादि का पढ़ना पढ़ाना वा अहिंसा और सत्य का आचरण आदि सामान्य विशेष धर्म सरल रीति से समझाने पूर्वक उपदेश किया है किन्तु उन्हों ने यह धर्म कहीं लिखा नहीं था (इस का विशेष विचार आगे उपोद्घात में किया गया है) वह सब धर्म परमेश्वर ने पहिले से ही कथन कर रक्खा है अर्थात् जब धर्मशास्त्र का उपदेश हुआ उस से पहिले वह धर्मज्ञान मूलरूप से वेद में उपस्थित था क्योंकि वेद सब ज्ञानस्वरूप सब विद्याओं का भण्डार है सब विद्या वेद से निकली, निकलती और निकलेंगी। (यदि कोई शङ्का करे कि वेद में यह धर्म व्यवस्था जो मनु ने उपदेश की पहिले से थी तो फिर पुस्तक क्यों बनाया ? इस का उत्तर यह है कि वह व्यवस्था जैसी दशा में पीछे बनाई गई वैसी वेद में नहीं थी किन्तु मूलरूप से सूक्ष्म संकेतमात्र विचार वेद में था उस से सब कोई ऐसी व्यवस्था नहीं निकाल सकता इस को निकालना मनु जैसे वेदपारगन्ता का ही काम था। जब वेद में सब विद्या मानी जाती हैं तो यदि उस में सब का पूरा २ व्याख्यान किया होता तो वेद की समाप्ति होना ही दुस्तर थी इस लिये परमेश्वर ने मूलरूप से सब बिद्याओं का उपदेश वेद द्वारा किया पीछे ऋषियों ने एक २ विषय की व्याख्या एक २ शास्त्र में की है) इस कहने से अभिप्राय यह है कि मनु महाराज ने जो कुछ कहा है वह सब धर्म ही है। और धर्म का मुख्य लक्षण यही है कि जिस के सेवन से मनुष्य को सुख प्राप्त हो वह धर्म और जिस का परिणाम वा फल दुःख हो वही अधर्म है अर्थात् मनु महाराज ने ऐसा कुछ भी उपदेश नहीं किया जिस के सेवन से किसी की हानि वा दुःख हो यदि ऐसा कहीं इस पुस्तक में विषय आवे तो जानना चाहिये कि वह किसी स्वार्थी प्रमादी वा अज्ञानी ने कल्पित कर के उस में मिलाया है। मनु जी नेजो धर्म संसार की व्यवस्था सुधारने, दुःख हठाने और मनुष्यमात्र को सुख पहुंचा ने के लिये उपदेश किया है उस का मूल वेद है इस से यह भी सिद्ध है कि जिस का मूल वेद हो वही धर्म है और इस पुस्तक में ऐसा कोई विषय वा प्रकरण हो जो वेद से विरुद्ध हो उसी विषय पर वेद में जो लेख हो उस से विपरीत मनुस्मृति में हो तो वह इसी प्रतिज्ञा के अनुसार मनु का उपदेश नहीं समझा जायगा।

और कोई ऐसा विषय धर्मशास्त्र में कहा गया जिस का मूल वेद में नहीं मिलता और न उस का विरोधी वचन मिलता है तो वह वेदविरुद्ध नहीं

समझा जायगा। क्योंकि उस का मूल वेद में खोजने से मिलना सम्भव है। इस के साथ यह भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि जिस का मूल वेद में नहीं मिलता उस के होने से संसार का कुछ विशेष उपकार है वा अपकार। यदि उपकार है तो उस को वेदानुकूल अवश्य मानना चाहिये क्योंकि वेद का भी मुख्यअभिप्राय यही है कि उस से प्राणियों को सुख लाभ हो। इस दशा में वह वेद से विरुद्ध कदापि न माना जावेगा। वेद में उस का मूल न मिलने में मनुष्य की अल्पज्ञता भी कारण हो सकती है। और यदि वह विषय अनुपकारी दुःख पहुंचाने वाला है तो वेदानुकूल प्रतीत होने पर भी वेद विरुद्ध ही माना जायगा क्योंकि वहां भी वेदानुकूल प्रतीति होने में मनुष्य की अल्पज्ञता कारण हो सकती है।अर्थात् वेद से विरुद्ध वही समझा जायगा कि जिस विषय में वेद में लिखा हो कि अग्निहोत्र वा यज्ञ करना सर्वोत्तम है उसी को धर्मशास्त्र कहे कि यज्ञ करना नीच काम है। एक विषय में भिन्न २ कहना विरोध कहाता है किन्तु विषयान्तर में विरोध नहीं होता। इस अंश में पूर्व मीमांसा शास्त्र में लिखाहै कि—

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥

स्मृति का कथन वेद से साक्षाद् विरुद्ध दीख पड़े तो वह अनपेक्ष्य—त्याज्य है और विरोध न हो तो अनुमान करना चाहिये कि इस स्मृति के वचन का मूल वेद में होगा परन्तु ऊपर लिखे अनुसार हानि लाभ का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। इसी के अनुसार मेरा भी विचार है कि जहां तक सम्भवहो वेद के साथ इस की अनुकूलता दिखाकर अनुकूल वा विरुद्ध ठहराऊं। और अपनी विद्या बुद्धि वा शक्ति के अनुसार ऊपर लिखे क्रम से इस धर्मशास्त्र का भाष्य कर के संसार के उपकार का साथी बनूं। इस मेरे मनोर्थ को सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता परमेश्वर ही पूरा करेगा।

मेरा विचार यह नहीं है कि मेरे लेख को किसी निज समुदाय वा मत वाले ही लोग देखें सब कोई न देखे क्योंकि यह भाष्य किसी निजमत की पुष्टि के लिये नहीं बनाया है किन्तु वैदिकसिद्धान्त की पुष्टि के लिये किया गया है और वेद सब मतों में मान्य ही है इस से मेरा विचार है कि सब वेदानुयायी महाशय मेरी सम्मति को देखें और निष्पक्ष होकर विचार करें कि सत्य क्या है ?। जिस से संसार के सुधार का उपाय शोचा जावे मैं अब इस विषय को समाप्त कर के आगे उपोद्घात लिखने का प्रारम्भ करता हूं जिस से सब लोगों को इस ग्रन्थ का सारांश ज्ञात होगा आशा है कि मैंने जैसे परिश्रम से इस का विवेचन किया है वैसे ही कृपादृष्टि से लोग इस को देखेंगे। पहिले जो विषय उपोद्घात में विचार के लिये नियत किये हैं उन की नामावली यहां क्रमशः लिखता हूं पीछे यदि अन्य कोई विषय बढेगा तो उस का नाम भूमिका के अन्त में लिख दिया जायगा॥

अथ भूमिकास्थ विचारणीयविषयाणां सूचीपत्रम् ।

१—कोऽयं मनुर्नाम येनेदं शास्त्रमनुशिष्टम् ।
२—कदा किमर्थं च शास्त्रमिदं तेन स्मृतं कदा च पुस्तकाकृतिमापत् ।
३—शास्त्रस्य सामान्यतया विषयविचारः ।
४—विधिनिषेधसिद्धानुवादार्थवादानां विचारः ।
५—धर्माणामुत्तममध्यमनिकृष्टत्वे सापेक्षत्वप्रदर्शनम् ।
६—शास्त्रस्य क्रमप्राप्तविषयविचारे सृष्टेः पर्यालोचनम् । प्रथमाध्यायसमीक्षा च ॥
७—ब्रह्मचर्याश्रमविचारे तत्रस्था द्वितीयाध्यायसमीक्षा च ।
८—गृहाश्रमविचारे विवाहनियोगपुनःसंस्काराणां समीक्षणम् ।
९—पञ्चमहायज्ञेषु तर्पणश्राद्धयोर्विशिष्टो विचारः ।
१०—पठनपाठनविषयेऽनध्यायविचारः ॥
११—दानधर्मविवेचनम् । चतुर्थाध्यायसमीक्षणं च ।
१२—पूजोपासनाविषये मूर्त्तिपूजाविचारः ।
१३—भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम् । द्रव्यसूतकयोः शुद्धिविचारः ।
१४—मांसभक्षणे विधिनिषेधविचारः। पञ्चमाध्यायसमीक्षणं च ।
१५—वानप्रस्थसंन्यासविचारः । षष्ठाध्यायसमीक्षा च ।
१६—राजधर्मविचारसंक्षेपः । सप्तमाष्टमसमीक्षा च ।
१७—दायभागविचारः । नवमाध्यायसमीक्षा च ।
१८—ब्राह्मणादीनां वर्णानां विचारः ।
१९—वर्णसङ्करविचारः ॥
२०—आपद्धर्मविषयविचारः । दशमाध्यायसमीक्षा च ।
२१—प्रायश्चित्तविवेचनमेकादशाध्यायसमीक्षा च
२२—कर्मफलविचारः । द्वादशाध्यायसमीक्षा च ।

ओ३म्

अथ मानवधर्मशास्त्रस्योपोद्घातः ॥

विद्या यस्य सनातनी सुविमला, दुःखौघविध्वंसिनी ।
वेदाख्या प्रथितार्थधर्मसुगमा कामस्य विज्ञापिका ॥
मुक्तानामुपकारिणी सुगतिदा, निर्बाधमानन्ददा ।
तस्यैवानुदिनं वयं सुखमयं भर्गः परं धीमहि ॥ १ ॥
यस्माज्जातमिदं विश्वं यस्मिंश्च प्रतिलीयते ।
यत्रेदं चेष्टते नित्यं तमानन्दमुपास्महे ॥ २ ॥
यदेव वेदाः पदमामनन्ति तपांसि यस्यानुगतास्तपन्ति ।
शास्त्रं यदाशु मुनयः पठन्ति तस्यैव तेजः सुधियानुचिन्त्यम् ॥३॥
दिक्कालाकाशभेदेषु परिच्छेदो न विद्यते ।
यस्य चिन्मात्ररूपस्य नमस्तस्मै महात्मने ॥ ४ ॥
सर्वासां सत्यविद्यानां मूलं वेदो निरुच्यते ।
तस्यापि कारणं ब्रह्म तेन सृष्टौ प्रचारितः ॥ ५ ॥
तस्य वेदस्य तत्त्वं हि मनुना परमर्षिणा ।
तपः परं समास्थाय योगाभ्यासगतात्मना ॥ ६ ॥
सारांशमखिलं बुद्ध्वा लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मः सनातनः स्मृत आपद्धर्मश्च कालिकः ॥ ७ ॥
प्रचाराधिक्यमापन्नः पुरा धर्मः सनातनः ।
आसीदास्थाय सत्यां तां गुरुशिष्यपरम्पराम् ॥ ८ ॥

या पश्चाच्छलत्लोभाभ्यां मोहेन कलहेन वा ।
अविद्योपासनेनापि ब्रह्मचर्यादिवर्जनात् ॥ ९ ॥
स्वार्थसाधनरागेण धर्मस्य परिवर्जनात् ।
अधर्मसेवनेनापि नष्टा सत्या परम्परा ॥ १० ॥
तदा नानामतान्यासन् मनुष्याणामितरेतरम् ।
श्रौतस्मार्तस्य धर्मस्य नाशस्तेनाभवत्पुनः ॥ ११ ॥
स्वस्य स्वस्य मतस्यैव प्रचाराय पुनस्तदा ।
विरुद्धपक्षसंसक्तैर्ग्रन्थानां निर्मितिः कृता ॥ १२ ॥
ये च वेदानुगा ग्रन्थाः शुद्धा दृष्टा मतानुगैः ।
तत्रापि सर्जितं वाक्यं स्वमतस्यैव पोषकम् ॥ १३ ॥
तस्माच्च शुद्धग्रन्थनामार्षाणां श्रौतधर्मिणाम् ।
धृतवर्णाश्रमतत्त्वानामद्य प्राप्तिः सुदुर्लभा ॥ १४ ॥
यादृशाश्चोपलभ्यन्ते ग्रन्थाः परमर्षिनामतः ।
तत्रापि निर्मितं भाष्यं तैरेव स्वमतानुगम् ॥ १५ ॥
धर्मस्य वर्णनं तत्र सम्यङ्नैवोपलभ्यते ।
मतवादं पुरस्कृत्य पक्षपातश्च वर्णितः ॥ १६ ॥
तर्केणानुसन्धानं मनूक्तं नोपलभ्यते ।
श्रौतस्मार्त्तस्य धर्मस्य तेषु भाष्येषु पश्यतः ॥ १७ ॥
अतोऽहं बहुभिराज्ञप्तः सज्जनैर्धर्मवेदिभिः ।
स्वयं चाप्यनुसन्धाय दृष्ट्वा च धर्मविप्लवम् ॥ १८ ॥
मानवस्यास्य शास्त्रस्य वेदानामनुगामिनः ।
भाष्यारम्भं करोम्यद्य लोकानां हितमाचरन् ॥ १९ ॥
भियःषुग्वेत्यपादाने निष्पन्ना पुगभावतः ।

तादृशी यस्य सेनाऽस्ति तन्नाम्नेदं वितायते ॥ २० ॥
यद्यप्येतादृशी शक्तिर्मयि मन्दे न विद्यते ।
तथापि तर्त्तुमिच्छामि सत्यप्लवेन सागरम् ॥ २१ ॥
सत्यो हि जगदाधारस्तस्य चैवानुचिन्तनात् ।
सत्यधर्मप्रचाराय बुद्धिं मे प्रेरयिष्यति ॥ २२ ॥
नराणामल्पशक्तित्वात्सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
विद्याऽब्धिवेदमूलेन विना चिन्मात्रमूर्त्तिना ॥ २३ ॥
तस्मात्क्वापि विरुद्धं चेत्प्रमादादिसुदूषितम् ।
गुणानुरागिभिस्त्याज्यं ज्ञात्वा नीचैरुपासितम् ॥ २४ ॥

भाषार्थः—अब प्रस्तावना लिखने पश्चात् मानव धर्म शास्त्र की मुख्य भूमिका का प्रारम्भ किया जाता है। इस लिये शिष्ट लोगों की परिपाटी अर्थात् ऋषि महर्षि लोगों की आज्ञानुसार कि सब शुभ कार्यों के प्रारम्भ में सब के स्वामी परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना वा ध्यान करना चाहिये कि जिससे उसकी कृपा हो कर बुद्धि निर्मल वा शुद्ध हो सकती है इसी कारण उस कार्य का अच्छा बन जाना सम्भव है। इस लिये हम को भी प्रथम परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये इस कारण पहिले मङ्गलाचरण किया है।

सब दुःखों के समुदाय का ध्वंस नाश करने वाली जिसके होने से धनादि पदार्थ और सुगम रीति से धर्म्म प्राप्त हो सकता है जिसमें धर्मानुकूल स्त्री सम्बन्ध रूप काम की आज्ञा है। जो ठीक २ तत्त्वज्ञान होने से मुक्तों का उपकार करने वाली उसके अनुकूल चलने वाले संसारी जनों को जन्मान्तर में अच्छी गति देने वाली और सब बाधाओं से रहित आनन्द की दाता निर्मल शुद्ध सनातन वेद नामक जिसकी विद्या संसार में प्रकट हुई है उसके सुख स्वरूप सर्वोत्तम ज्ञानमय तेज का हम लोग प्रति दिन ध्यान वा धारण करें ॥ १ ॥ जिस सर्वनियन्ता परमेश्वर से यह प्रत्यक्ष चित्र विचित्र अनेक प्रकार की शिल्पविद्या का दिखाने वाला जगत् उत्पन्न हुआ जिस में नियम पूर्वक स्थित हो कर चेष्टा करता और जिस में सब लय हो जाता है उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म की हम लोग उपासना करें ॥ २ ॥

जिसके अधिकार वा महत्त्व का सब वेद वर्णन करते अर्थात् कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से सब वेदों में जिसका वर्णन है और जिस को प्राप्त होने की इच्छा से जिज्ञासु लोग तप करते तथा जिसको प्राप्त होने के लिये ऋषि मुनि जन वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं विचार शील पुरुषों को उसी के तेज का चिन्तन करना चाहिये ॥ ३ ॥ दिशा काल और आकाश के भेदों में जिसका परिच्छेद नहीं अर्थात् किसी निज पूर्वादि दिशा किसी निज क्षणादि काल और किसी निज अवकाश में जो नहीं रहता किन्तु सब दिशा, काल और अवकाशों में विद्यमान है उस चेतन मात्र स्वरूप सर्वव्याप्त परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ ४ ॥ सब सत्य विद्याओं का मूल वेद माना जाता है उस वेद का भी मूल कारण ब्रह्म है क्योंकि उसी परमेश्वर ने संसार में वेदों का प्रचार कराया ॥ ५॥ योगाभ्यास में तत्पर महर्षि मनु महाराज ने प्रबल उत्कृष्ट तप का आश्रय ले कर और उस वेद का मुख्य सारांश अभिप्राय जान कर संसार के उपकार की कामना से सनातन धर्म का तथा समयानुकूल आपत्काल में सेवने योग्य आपद्धर्म का स्मरण अर्थात् वेद से विचार कर प्रकट किया ॥ ६ । ७ ॥ वह सनातन धर्म पूर्वकाल में गुरु शिष्य की उस सत्य परम्परा के आश्रय से अधिक कर प्रचरित था । अर्थात् पूर्वकाल में सृष्टि के आरम्भ से पुस्तकों के विना ही वेदादिस्थ विद्या और धर्म के उपदेश गुरु शिष्य की निरन्तर चलने वाली प्रणाली से चलते थे ॥ ८ ॥ जो परम्परा पीछे छल, कपट, लोभ, मोह, कलह, अविद्या के सेवन, ब्रह्मचर्यादि के छोड़ने' स्वार्थ साधन में तत्पर होने' धर्म के छोड़ देने और अधर्म का सेवन करने से वह सत्य परम्परा नष्ट हो गई ॥ ९ । १० ॥ उस समय परस्पर मनुष्यों में नाना प्रकार के मत चले उस से वैदिक और स्मार्त्त धर्म का और भी नाश हुआ ॥११॥ उस समय परस्पर विरुद्ध मतों में आसक्त लोगों ने अपने२ मत का प्रचार करने के लिये अपनी २ इच्छा के अनुसार ग्रन्थों का निर्माण किया ॥ १२ ॥ और मतवादी लोगों ने जो वेदानुकूल शुद्ध ग्रन्थ देखे उनमें भी अपने २ मत के पोषक वाक्य मिला दिये ॥ १३ ॥ इसी कारण से जिन में वर्णाश्रम धर्म का स्पष्ट आशय धरा गया था ऐसे वैदिक धर्म के ऋषि प्रणीत शुद्ध ग्रन्थों का मिलना अब दुर्लभ हो गया ॥ १४ ॥ शुद्ध ग्रन्थों में मतवादियों ने इस लिये अपने२ मत के पोषक वचन मिलाये कि जिस से हमारा मत निर्मूल न समझा जावे किन्तु प्रतिष्ठित वेदमूलक ग्रन्थों में मिल जाने से सनातन माना जावे और हम को कोई न पकड़ सके ।

अब जैसे कुछ ग्रन्थ ऋषियों के नाम से मिलते हैं उन पर भी उन्हीं लोगों ने अपने २ मत की पुष्टि परक व्याख्या बनाईं। यद्यपि व्याख्या करने वालों का भीतरी अभिप्राय यह नहीं था कि हम इस शास्त्र में अपना मत घुसेड़ें तो भी उन २ का अन्तःकरण उस २ मत के रङ्ग से रंगा होने के कारण वैसे ही भाष्य भी बनाये गये ॥ १५ ॥ उन भाष्यों में ठीक २ धर्म का वर्णन जैसा होना चाहिये प्राप्त नहीं होता। और कहीं २ अपने २ मत के आश्रय से पक्षपात भी वर्णन किया गया है ॥ १६ ॥ इस मानवधर्मशास्त्र में तर्क पूर्वक धर्म का निर्णय करने के लिये (यस्तर्केणानुसन्धत्ते०) इत्यादि वचनों में स्पष्ट आज्ञा लिखी है उसके अनुसार वेद सम्बन्धी और धर्म शास्त्र सम्बन्धी धर्म का वर्णन उन भाष्यों में देखने वाले को प्राप्त नहीं होता जिस से आज कल के धर्म का निर्णय चाहने वाले मनुष्यों को सन्तोष हो ॥ १७ ॥ इसी से अनेक धर्मज्ञ और सज्जन लोगों ने मुझ को आज्ञा वा सम्मति दी तथा मैंने भी विचार किया कि वास्तव में ऐसी दशा होने से मुझ को इस पर यथाशक्ति विचार करना चाहिये और मैंने यह भी विचारा कि ऐसा न करने से अब दिन २ धर्म की हानि होती जाती है। धर्म शास्त्र में आज्ञा है कि धर्म की हानि होती हो तो ब्राह्मण भी शस्त्र को ग्रहण करें। और विद्वानों का शस्त्र वाणी वा विद्या ही है कि जिस से अधर्म का ध्वंस हो सकता है [शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः] इत्यादि प्रकार के विचार से लोक का उपकार होना मान कर मैं अब वेदों के अनुयायी इस मानव धर्म शास्त्र के भाष्य का प्रारम्भ करता हूं ॥ १८ । १९ ॥ वीश में श्लोक में मेरा नाम [भीमसेन—शर्म्मा] व्याकरण के अनुसार दिखाया गया है ॥ २० ॥ यद्यपि मुझ मन्द बुद्धि में ऐसी शक्ति नहीं है जो वेदानुकूल धर्म का ठीक २ निर्णय कर सकूं तो भी सत्यरूप नौका के आश्रय से इस मानव धर्म शास्त्र रूप समुद्र के पार होना चाहता हूं ॥ २१ ॥ और वही सब जगत् का आधार सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही मुख्य कर सत्य है उसका स्मरण ध्यान स्तुति प्रार्थनादि करने से सत्य धर्म का प्रचार होने के लिये वह परमेश्वर मेरी बुद्धि को अवश्य प्रेरणा करेगा ॥२२॥ सब विद्याओं का सागर जो वेद उसके कर्त्ता चेतनमात्र स्वरूप एक परमेश्वर को छोड़ कर अन्य कोई भी सर्वज्ञ नहीं है किन्तु सभी मनुष्य अल्पज्ञ हैं। इस कारण मेरे भाष्य में प्रमादादि से कहीं विरुद्ध वा दूषित लेख किन्हीं महाशयों वा विद्वानों को जान

पड़े तो गुणानुरागी लोगों को वह दोष छोड़ देना चाहिये क्योंकि अच्छे लोगों का स्वाभाविक धर्म यही है कि वे दूसरे के गुणों को अच्छा समझ के उस के सहकारी बनते हैं। और कोई दोष जान पड़ता है तो छोड़ देते हैं क्योंकि दोषों का ग्रहण करना नीच पुरुषों का काम है। और यह भी हो सकता है कि जैसे प्रमादादि से मेरा लेख कहीं दूषित होजावे वैसे प्रमादादि के होने से मेरे निर्दोष लेख को भी कोई विरुद्ध मान सकता है इस लिये विचारशीलों को उचित है कि यदि कहीं विरुद्ध जान पड़े तो प्रथम मुझ से ही पूछ देखें यदि भूल होगी तो मैं स्वयं मान लूंगा। और वह ठीक हो जायगा ॥ २३ । २४ ॥

अथ कोऽयं मनुर्नाम येनेदं शास्त्रमनुशिष्टम् ?। मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठानसम्पन्नः स्मृतिपरम्पराप्रसिद्धइति मेधातिथिः। सकलवेदार्थादिमनान्मनुरिति कुल्लूकः। मनुः स्वायम्भुवइति नन्दनः। मनुर्नाम महर्षिरशेषवेदार्थादिज्ञानेन प्राप्तमनुसंज्ञ आगमपरम्परया सकलविद्वज्जनकर्णगोचरीभूतसर्गस्थितिप्रलयाधिकृतइतिगोविन्दराजः। मनुः कुत्रचिद्ब्रह्मणः पौत्रः। कुत्रचित् प्रजापतिः। कुत्रचित् ७।४२ मध्ये कश्चिद्राजा। कुत्रचित् १२।१२३मध्ये साक्षाद्ब्रह्मेत्युक्तमस्मिन्नेव निबन्धे तेन निश्चेतुमशक्यं कोऽयं मनुरासीदिति वेवरसाहवः। इत्येवं प्रकाराणि परस्परं व्याहतानि वचांस्यस्मिन्प्रसङ्गउपलभ्यन्ते। तत्रायं निर्णयः श्राव्यः। आदिसृष्टौ कल्पान्तरीयसंस्कारैः संस्कृतात्मा पूर्वाभ्यस्तविद्यया वेदार्थज्ञाने तीव्रबुद्धिः पूर्वकल्पानुष्ठितपुण्यसमुच्चयेन शुद्धान्तःकरणो धृततेजस्कश्चतुर्वेदवित् सर्वव्यवहारपरमार्थज्ञानकुशलो मनुष्येषु सूर्यइव तेजस्वी तपश्चरणयोगाभ्यासतत्परो मननशीलो मनुर्नाम महर्षिरासीत्तस्यैवापरं नाम ब्रह्माऽप्यासीदिति हेतुभिरेवानुमीयते। अतएव तस्य स्वायम्भुवइत्यपि नाम संजाघटीतीति। स्वयम्भूः परमेश्वरः स्वयमेव स सृष्टिं कर्त्तुमाविभवति। न कश्चिदपि तस्याविर्भावयितास्ति।

प्रलयदशायां च सर्गारम्भकार्याणामभावात्तदानीं सर्गारम्भोद्योगएव तस्याविर्भावः । ब्रह्मणश्चतुर्वेदविदो मनुष्यस्य देहिनस्तु स्वयम्भूरिति नाम नैव सम्भवति तस्य परमात्मत उत्पत्तिदर्शनात् । यदि च स्वयमेव तस्य ब्रह्मण उत्पत्तिः स्यात्तर्हि परमात्मानमन्तरेणान्येषामपि मनुष्याणामुत्पत्तिर्भवितुमर्हति । तथा च सति निरीश्वरवाद आयात् । इत्थं सत्येव प्रथमाध्यायस्यैकपञ्चाशत्तमे पद्ये नन्दनकृतं व्याख्यानं समीचीनतरं प्रतिभाति । तत्र चाचिन्त्यपराक्रमशब्देन परमात्मनएव ग्रहणमुचिततरं तथा च सति मनोः स्रष्टा परमात्मा सम्भवति । यदि च चतुर्वेदविदो देहधारिणो ब्रह्मणः पौत्रो मनुरिति कस्यचिदभिप्रेतं स्यात्तर्हि परमात्मना मनुः सृष्टइति कथने वैयर्थ्यमापद्येत । अचिन्त्यपराक्रमशब्देन देहिन एव ब्रह्मणो ये भाष्यकारा ग्रहणमिच्छन्ति । तेषां मते देहिनो ब्रह्मणः परमात्मनि विशेष उपपादयितुं न सम्भवति । भाष्यकाराणां सकलवेदार्थादिमननान्मनुरित्यादीनि वचांसि च ब्रह्मा मनुरित्येकस्यैव नाम्नोः सतोरुपपद्यन्ते। सर्गारम्भएव सकलवेदार्थविदः पुरुषद्वयस्यासम्भवोऽपिदोषः। प्रजापतिशब्दश्च ब्रह्मणो विशेषणं प्रायश उपलभ्यते तथा सति मनोरपि विशेषणं सुलभमेव भविष्यति । तस्यैव पुरुषस्य वेदार्थवृद्धिहेतुत्वाद् ब्रह्मा वेदाशयानां मननान्मनसि पर्यालोचनाच्च मनुर्नाम जगति प्रख्यातिमापत् । एकस्य वस्तुनोऽनेकानि नामानि भवन्तीति च दृष्टचरमेतदिति । अस्मिन्नेव शास्त्रे यानि वचांस्यतो विरुद्धान्यायास्यन्ति तेषां यथावसरं समाधानं करिष्यामः ।

एक शब्दएकस्यैव वस्तुनो वाचकः स्यादयमपि नियमो न दृश्यते । यथा देवदत्तइतीयं संज्ञा बहूनामासीद्भवति भविष्यति

च । इत्थमेव मनुरित्यन्यपुरुषाणां वाच्यानां वा नामासीद्भवति भविष्यति च वाच्यानामागमापायिधर्मवत्त्वान्नामान्यपि चक्रवत्परिवर्त्तन्ते । मनुः कश्चिद्राजाऽप्यासीद्यस्य नाम सप्तमाध्यायेऽस्ति । मनुरिति परमेश्वरस्यापि नामास्ति यस्य द्वादशाध्याये वर्णनम् । एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिमित्यादिना । मन्यते सर्वं चराचरं तत्त्वतो जानाति स सर्वज्ञो मनुः परमेश्वरः । एवं मत्वैव मनुशब्दान्मनुष्यमानुषशब्दौ निष्पन्नौ । मनोर्जातावञ्यतौषुक् च । अ० ४ । १ । १६१ । इत्यत्र पाणिनिना नह्यपत्यार्थो विवक्षितः किन्तुजातिशब्दत्वेन रूढिशब्दावेतौ तयोः स्वरादिज्ञापनाय यथाकथमपि साधुत्वं प्रदर्शितम् । तस्यायमाशयः । परमात्मना मननसामर्थ्याद्धर्माधर्मादीनां विवेचनाय सृष्टः समुदायो जातिर्मनुष्यो मानुष इति वा कथ्यते । अपत्यार्थोऽत्र न विवक्षितइति जयादित्यादीनामपि सम्मतमेव । यदि चादिपुरुषाद्देहधारिणो मनुष्ये प्रत्ययइति कस्यचिन्मतं स्यात्तदाऽपत्ये प्रत्ययोत्पत्तिरवश्यं विवक्षिता भवेत् । एतच्च सर्गारम्भे यद्येकएव कश्चित्पुरुषविशेषः परमात्मनोत्पादितो भवेत् तदा तस्यैवापत्यभूताः सर्वे भाविनः स्युः। एवं सति मनुष्यमानुषशब्दौ सार्थकौ जातिवाचकौ भवितुमर्हतः। तच्च वेदादपि विरुद्धमेतत् । मनुष्याः पितरो देवाः साध्याः पशवश्चये उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वइत्याशयः स्पष्टमथर्ववेदेऽस्ति । एवमन्येष्वपि वेदेषु शतशः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते यत्र परमात्मसकाशाद्बहूनां मनुष्यादीनामुत्पत्तिः स्पष्टं प्रदर्शितास्ति । तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । इत्यादीनि वचांस्युपनिषत्सु चोपलभ्यन्ते । तस्मात्सिद्धमेतद्यत्सर्गारम्भे बहूनां

मनुष्यादीनामुत्पत्तिः सहैवासीदिति। यदा च सर्गारम्भे बहवो मनुष्याः सृष्टा आसंस्तर्हि मनोरेवापत्यभूतानां मनुष्यइति संज्ञा स्यादन्येषामपत्यानां न स्यात्तच्चानिष्टम्। तस्माद्बहूनां मनुष्यादीनामादावुत्पत्तिरिति वैदिकएव सिद्धान्तः साधुः। परमात्मवाचकाच्च मनुशब्दान्मनुष्यमानुषशब्दौ निष्पन्नौ। यत्र च जनवाचक मनुशब्दादपत्ये प्रत्ययस्तदा मनोरपत्यं मानवइति तस्यापत्यमित्यनेन सामान्यसूत्रेणैवाणप्रत्ययेन भवितव्यम्। एवं सति ये केचिन्मनुष्यपर्यायं बुद्ध्वा मानवशब्दं व्याहरन्ति तत्राज्ञानमेव कारणमित्यनुमिन्वे। नहि मानवशब्दो जातिवाचकोऽस्ति। किन्तु सर्गारम्भे पश्चाद्वा जातस्य मनोर्जनस्य कुलभूतानां पौत्रादीनां नाम भवितुमर्हति। कोशेष्वपि मानवशब्दो मनुष्यपर्यायप्रज्ञया धृतस्तत्रापि भ्रान्तिरेवानुमेया। जातावञ्यतोरेव विधानात्। अजातावेवाण भाव्यमित्यर्थात्सिद्धम्। यश्च मानवशब्दो धर्मशास्त्रादीनां विशेषणं तत्र तस्येदमित्यण् स्मर्त्तव्यः। मनुशब्दः साधारणमनुष्यस्यापि नाम भवितुमर्हतीत्युक्तमपि प्रायेणैतदप्याश्रित्य महाभाष्यकारेणेयं कारिका पठिता—अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः। नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः॥ कुत्सितेऽपत्ये वाच्ये मनुशब्दादणेव भवति नकारस्य चाण्संयोगेन णत्वं निपात्यते। तेन मनुनाम्नो मननशीलस्यापत्यं यत्कुत्सितं तस्य माणवइति संज्ञा विज्ञेया। मानवशब्दः कथंचिद्गोत्रजातिवदवान्तरजातिवाचकः स्यात्तथापि समानप्रसवात्मकं जातिलक्षणमूरीकृत्य निष्पादितयोर्मनुष्यमानुषशब्दयोरपेक्षया तस्य जातित्वाभावएव वक्तुं शक्यते।

यदि माणवशब्दे परमात्मवाचकादेव मनुशब्दात्कुत्सितापत्येऽण् स्यात्तथापि नास्ति कश्चिद्दोषः। एवं मनुष्यमानुषयोरपत्या-

र्थविवक्षायामपि न दोषः। वयं सर्वे तस्य सर्वशक्तिमतोऽपत्यभूता एव स्मः स चास्माकं पिता सर्गारम्भे तेनैव सर्वउत्पादिता रक्षिताश्च तस्मादुत्पादनरक्षणधर्मकत्वात्तस्मिन् पितृत्वम्। ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्थाशीतितमसूक्तस्य षोडशमन्त्रे मनुष्पितेत्यादि शब्दैः सर्वस्य चराचरस्य मनुः पितेति स्पष्टमुक्तम्। एवमन्यान्यपि शाखाब्राह्मणादिषु शतशः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते। येन सर्वस्योत्पादकः पिता मनुः परमात्मैवायाति। तस्य सृष्टौ ये जनाः सदसद्धर्माधर्मादीनां मननकर्त्तारस्ते मनुष्या अन्ये स्वकृत्याद्भ्रष्टा निन्दिता जना माणवाः। एवं सति कोशकारैर्माणवशब्दस्य बालपर्यायकथनं प्रामादिकमेव प्रतिभाति नापि तत्र कुत्सार्थघटना कर्त्तुं शक्यते। अपत्यशब्दोऽपि साधारणावस्थासु प्रयुज्यते नतु बाल्यएव। यस्तत्कर्त्तुं शक्तोऽपि न कुर्यात्स तत्र निन्दार्हो भवति। नहि बाला धर्माधर्मादीनां विवेचने समर्थास्तस्मान्माणवशब्दो निन्दितेषु धर्मविहीनेषु पशुवद्वृत्तिषु नृषु प्रयोज्यः। एवं मनुशब्दो यथावसरं यथाकालं बहूनां नामास्ति। यस्तु धर्मव्यवस्थापकानामादिभूतो धर्मोपदेशकेषु प्रधानो मनुः स ब्रह्मापि कथ्यते। मैत्रायणीयब्राह्मणोपनिषदि ५। १ तैत्तिरीयकृष्णयजुःसंहितायां च ३। २। ८। १। तथा ४। १। ९। १ मन्त्रयोर्मनुर्ब्रह्मा चैकस्यैव नाम्नी स्तइति स्पष्टतया प्रदर्शितम्। तेन विद्वद्भिरनुसन्धेयम्। पुरातनशिष्टसम्मतोऽयं सिद्धान्तः। नतु मयाऽभ्युपगमसिद्धान्तत्वेन स्वीकृतइति। यदि कश्चिद्वदेद् ब्रह्माइति नाम्नैवात्रापि स्मृतिप्रसङ्गे व्यवहारः कुतो न कृतो येन सन्देहएव नाभूत्? स्मृतिप्रसंगे वेदार्थस्य स्मरणं मननं तेन कृतमित्यन्वर्थं नाम रचितम्। शङ्काभयात्कार्याणि न निरुध्यन्ते। यद्यदनुष्ठीयते शास्त्रं वा निबध्यते तत्रतत्र सर्वत्रैव सन्देहाः प्रायशो-

ल्पधियामेव जायन्ते विज्ञाश्चौषधेन रोगमिव सिद्धान्तवचोभिः सन्देहान्निवारयन्ति। मनुस्मृतेर्ब्रह्मस्मृतिरपि नामास्त्येव विशिष्टः प्रचारस्तेन नाम्ना नास्ति। इदानीं सिद्धमेतद्ब्रह्माऽयं मनुनाम्ना प्रसिद्धस्तेनेदं शास्त्रमादावुपदिष्टम् । अतो विरम्यतेऽनल्पजल्पनेन ॥

भाषार्थः—अब सूचीपत्र में दिये भूमिका के विषयों में से प्रथम मनु शब्द पर विचार किया जाता है कि वे मनु कौन थे जिन्हों ने सब से पहिले धर्मशास्त्र का उपदेश मनुष्यों को किया । इस विषय में—मनु नामक कोई निज (खास) मनुष्य थे जो वेद की अनेक शाखाओं के पढ़ने जानने और उनमें लिखे अनुसार आचरण करने में तत्पर और स्मृतियों की परम्परा से प्रसिद्ध हैं यह मेधातिथि का लेख है।कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों के अर्थ आदि का मनन विचार करने से उनका नाम मनु हुआ। नन्दन कहते हैं कि स्वायम्भुव का नाम मनु है। और गोविन्दराज ने लिखा है कि सम्पूर्ण वेद के अर्थ आदि को जानने से मनु संज्ञा को प्राप्त हुए शास्त्रों की परम्परा से सब विद्वान् जिन के नाम को बराबर सुनते जानते आये और परमेश्वर ने संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने के लिये जिनको नियत किया ऐस महर्षि का नाम मनु था । और वेबर साहब (इंगलैण्ड देश निवासी जिन्हों ने अंगरेजी में मनुस्मृति पर भाष्य किया है) लिखते हैं कि कहीं तो ब्रह्मा का पौत्र मनु लिखा कहीं मनु को प्रजापति माना गया कहीं अ० ७। श्लोक ४२ में मनु नामक राजा था ऐसा लिखा है और अ०१२। के १२३ श्लोक में मनु को साक्षात् ब्रह्म करके लिखा है इसी मनुस्मृति में ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार के लेख हैं तिस से यह निश्चय हो सकना कठिन है कि इस धर्म शास्त्र का बनाने वाला मनु कौन था? । परन्तु वेबर साहब ने आगे यह भी लिखा है कि इस देश में सर्वोपरि धर्म का जानने वाला कोई मनु पहिले हुआ जिसके नाम से ही धर्म की प्रशंसा चली आती है ।

इस प्रसंग में इत्यादि प्रकार के लेख अलग २ लोगों के मिलते हैं जिन में सब की एक सम्मति नहीं जान पड़ती । इस विषय में मैं अपनी सम्मति से निश्चय सिद्धान्त लिखता हूं उस को सुनना चाहिये । सृष्टि के प्रारम्भ में पहिले कल्प के अच्छे संस्कारों से जिनका आत्मा शुद्ध था पहिले जन्मों में अभ्यास की हुई विद्या से वेदार्थ के जानने में जिनकी बुद्धि तीव्र थी पहिले कल्प में सेवन

किये पुण्य के समुदाय से जिनका अन्तःकरण शुद्ध था इसी कारण तेजधारी चारों वेद के ज्ञाता सब संसार और परमार्थ के कर्त्तव्य को ठीक २ जानने वाले मनुष्यों में सूर्य के तुल्य तेजस्वी तपस्या और योगाभ्यास करने में तत्पर विचार शील मनु नामक महर्षि हुए उनही का दूसरा नाम ब्रह्मा भी था यह बात अनेक प्रमाणों वा कारणों से निश्चित सिद्ध है। इसी कारण उन मनु का स्वायम्भुव नाम भी विशेष कर घटता है क्योंकि स्वयम्भू नाम परमेश्वर का इस लिये माना जाता है कि वह सृष्टि रचने के अर्थ स्वयमेव प्रकट होता है अर्थात् सृष्टि के लिये उस को कोई प्रेरणा वा उद्यत नहीं करता। प्रलय दशा में रचना के सम्बन्धी कार्यों के न रहने से रचने से पहिले रचना के आरम्भ का उद्योग करना ही उस का प्रकट होना कहाता है। इसी से उस को स्वयम्भू कहते हैं। चारों वेद के जानने वाले देहधारी ब्रह्मा का स्वयम्भू नाम इस लिये नहीं हो सकता कि परमेश्वर से ब्रह्मा की उत्पत्ति अनेक ग्रन्थों में दिखाई गई है। यदि उन ब्रह्मा की स्वयमेव उत्पत्ति होती तो परमात्मा के विना अन्य मनुष्यादि की भी उत्पत्ति हो सकना सम्भव है [इस प्रसङ्ग में अनेक लोगों का ऐसा मत है कि परमात्मा ने स्वयमेव ब्रह्मारूप बन कर संसार को उत्पन्न किया। इस अंश पर यहां विशेष विचार इस लिये नहीं लिखता कि यह प्रकरणान्तर है और प्रकारणान्तर पर विचार चल जाने से मुख्य प्रकरण छूट जाता है परन्तु इतना अवश्य कहता हूं कि परमेश्वर परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को धारण कभी नहीं करता वह सदा निराकार है साकार कभी नहीं होता वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है कभी शरीरादि में बद्ध नहीं होता इसी लिये वेद में उस को अकाय लिखा है। तथा योगभाष्य में व्यास जी ने लिखा है कि [स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति] वह सदैव मुक्त और सदा अनन्तशक्ति रहता है शरीर धारण करे तो मनुष्यों के तुल्य शरीर में बद्ध और अल्पशक्ति अवश्य होजावे क्योंकि शरीर के परिच्छिन्न वा अन्तवाले होने से शरीरी कदापि अमर्यादशक्ति वाला नहीं हो सकता। इत्यादि कारणों से स्वयम्भू शब्द का वैसा अर्थ करना ठीक नहीं है किन्तु वही अर्थ ठीक है जो पूर्व लिखा गया] और परमेश्वर के विना यदि अन्य मनुष्यादि की उत्पत्ति होजावे तो निरीश्वर वाद भी आसकता है क्योंकि फिर किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं रहे गी। और ब्रह्मा को मनु मानने से ही प्रथमाध्याय के ५१ श्लोक पर पं० नन्दन का किया व्याख्यान बहुत अच्छा प्रतीत

होता है। क्योंकि वहां अचिन्त्यपराक्रम शब्द से नन्दन ने परमेश्वर का ग्रहण किया है तथा अन्य भाष्यकारों की सम्मति से ब्रह्मा का ग्रहण होना प्रतीत होता है। परन्तु परमेश्वर का ग्रहण होना ही अति उचित है इसी से मनुनामक ब्रह्मा का रचने वाला परमेश्वर हो सकता है। और यदि किन्हीं लोगों के मतानुसार चार वेदों के जानने वाले देहधारी ब्रह्मा का पौत्र मनु माना जावे तो परमेश्वर ने मनु को उत्पन्न किया यह कहना व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि मनु ब्रह्मा के पौत्र हुए तो उन के उत्पादक पिता विराट् हुए। यदि कहा जावे कि परमेश्वर ही सब को जन्म मरण देता है इस कारण ब्रह्मा का पौत्र होने पर भी परमेश्वर ने उत्पन्न किया कह सकते हैं और पिता निमित्तमात्र है तो ठीक है परन्तु मनु को ही परमेश्वर ने उत्पन्न किया यह कैसा? क्या अन्यों को नहीं किया और उस श्लोक का यह तात्पर्य नहीं हो सकता क्योंकि वहां मैथुनी सृष्टि का प्रसङ्ग नहीं है किन्तु ईश्वर ने जैसे सब को रचा वैसे ही मुझ को भी बनाया यह कथन है। इस लिये ब्रह्मा का ही नाम मनु रखना उचित है क्योंकि उस पक्ष में यह कोई विवाद नहीं उठता। और अचिन्त्यपराक्रम शब्द से जो भाष्यकार लोग ब्रह्मा का ग्रहण करना चाहते हैं उनके मत में देहधारी ब्रह्मा से परमात्मा में कुछ विशेषता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि जब ब्रह्मा ही अनन्तशक्ति धारी हो गये तो उनके उत्पादक पिता में क्या अधिकता रही और शरीर धारी का अनन्तशक्ति होना ठीक भी नहीं अर्थात् असम्भव है। तथा भाष्यकारों के सम्पूर्ण वेद को जानने से वा मनन करने से मनु नाम हुआ इत्यादि वचन ब्रह्मा को ही मनु मानने पर सार्थक हो सकते हैं। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में ही एक साथ सब वेद को जानने समझने वाले दो पुरुष नहीं हो सकते।

तथा प्रजापति शब्द भी ब्रह्मा का विशेषण प्रायः दीख पड़ता है सो ब्रह्मा को मनु मानने पर मनु का विशेषण प्रजापति सहज में हो सकेगा। अन्यथा सन्देह पड़ना सम्भव है कि दोनों का नाम प्रजापति क्यों रक्खा गया ?। ब्रह्मा को प्रजापति इस लिये कहा गया कि वे विद्या और धर्म की व्यवस्था चला कर प्रजा की रक्षा करते थे। वेद के अर्थ की वृद्धि अर्थात् प्रचार बढ़ाने से ब्रह्मा और वेद के आशयों का अन्तःकरण में मनन करने से एकही पुरुष का मनु नाम जगत् में विख्याति को प्राप्त हुआ। एक वस्तु के अनेक नाम होना लोक में भी प्रसिद्ध ही है। अर्थात् यह शंका नहीं हो सकती कि एक के दो नाम क्यों रक्खे

गये । एक वस्तु के अनेक नाम अनेक गुणों के होने से रक्खे जाते तथा उन एक२ नामों से उस २ प्रकार के गुण लोक व्यवहार में जताये जाते हैं । इसी धर्मशास्त्र में जो वचन इस सिद्धान्त से विरुद्ध जान पड़ेंगे उन का समाधान यथावसर किया जायगा ॥

एक शब्द एकही वस्तु का वाचक हो यह भी नियम नहीं दीखता । जैसे देवदत्त संज्ञा बहुत मनुष्यों की एक समय वा समयान्तर में हुई होती और होगी । इसी प्रकार मनु यह नाम अन्य वाच्य पुरुषों का भी हुआ है और होगा । वाच्य वस्तुओं के उत्पत्ति विनाश धर्मयुक्त होने से नाम भी पहिये के तुल्य लौट पौट होते रहते हैं । मनु नामक कोई राजा भी हुआ । जिस का नाम इसी पुस्तक के सप्तमाध्याय में आया है । यदि वेद में मनु नाम राजा का आवे तो वहां मनु नामक परमेश्वर ही राजा माना जायगा । क्योंकि इसी पुस्तक के अध्याय बारह में मनु नाम परमेश्वर का आया है कि उसी एक सर्वनियन्ता के मनु अग्नि और प्रजापति आदि नाम हैं । सब चराचर जगत् को जानता है इस लिये उस का नाम मनु है । ऐसा मान कर ही मनु शब्द से मनुष्य और मानुष शब्द बने हैं (मनोर्जातावञ्यतौषुक्च) इस पाणिनिकृत सूत्र में अपत्य अर्थ अपेक्षित नहीं है किन्तु जाति होने से सिद्ध शब्द रूढ़ि माने जावें गे। उन में स्वरादि का ज्ञान कराने के लिये जिस किसी प्रकार सिद्धि दिखायी है उस सिद्धि करने का अभिप्राय यह है कि मनु नामक परमेश्वर ने विचार करने की सामग्री से धर्म अधर्म का विवेक करने के लिये रचा समुदाय मनुष्य वा मानुष जाति कहाती है । अपत्य अर्थ की यहां अपेक्षा नहीं यह काशिकाकार जयादित्य आदि का भी सम्मत है । यदि आदि पुरुष देहधारी मनु से मनुष्य अर्थ में प्रत्यय है ऐसा किसी का मत हो तो अपत्य अर्थ में प्रत्यय की उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिये । सो यह सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर की ओर से यदि एक ही कोई पुरुष उत्पन्न किया गया माना जावे तो उसी के सन्तान सब आगे होने वाले प्राणी हों । इस प्रकार मानने से मनुष्य और मानुष शब्द जातिवाचक मनु के सन्तान सार्थक हो सकते हैं परन्तु यह वेद से विरुद्ध है । अथर्ववेद में लिखा है कि पितृ, देव, मनुष्य, पशु आदि अनेक २ प्राणी परमेश्वर से प्रथम उत्पन्न हुए । इसी प्रकार अन्य वेदों में भी सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं कि जिन में परमेश्वर से बहुत मनुष्यादि की उत्पत्ति स्पष्ट दिखायी गयी है । और उपनिषदों में भी स्पष्ट लिखा है कि उस परमेश्वर से अनेक प्रकार के सूर्य चन्द्रमादि देव अनेक मनुष्य पशु

और पक्षी आदि उत्पन्न हुए । इस से यह सिद्ध और सत्य है कि सृष्टि के आरम्भ में बहुत मनुष्यों की एक साथ उत्पत्ति हुई । और विचार पूर्वक ध्यान देने से भी यही प्रतीत होता है कि परमेश्वर ने प्रत्येक वस्तु आरम्भ में अनेक बनाये । यदि एक वस्तु वा मनुष्य को बनाता तो इतनी बड़ी पृथिवी पहिले शून्य ही होती और एक मनुष्य से इतनी वृद्धि भी लाखों वर्ष में नहीं हो सकती । जैसे एक मनुष्य से कुछ सृष्टि बढेगी वैसे जन्म के साथ मरण भी लगा है फिर ऐसी दशा में सप्तद्वीपा वसुमती पर एक मनुष्य के सन्तानों का इतना फैलाव होना दुस्तर है इस लिये अनेक मनुष्यों की उत्पत्ति प्रारम्भ में मानना ठीक सिद्ध है । और जब यह सिद्ध हो चुका कि सृष्टि के आरम्भ में बहुत मनुष्य रचे गये तो मनु नामक पुरुष के सन्तानों की ही मनुष्य संज्ञा हो अन्य के सन्तानों की न होनी चाहिये सो यह कदापि ठीक नहीं हो सकता कि किसी गोत्र के पुरुष ही मनुष्य कहावें और सब का नाम मनुष्य न पड़े । इस लिये सृष्टि के आरम्भ में एक साथ बहुत मनुष्यों की उत्पत्ति हुई यह वेदोक्त सिद्धान्त ही ठीक है और परमेश्वर के वाची मनु शब्द से ही मनुष्य मानुष शब्दों का बनना ठीक है। और जहां पुरुष वाचक मनु शब्द से अपत्य अर्थ में प्रत्यय होता है तब (तस्यापत्यम्) सूत्र से अण् प्रत्यय होकर मनु के सन्तानों का नाम मानव पड़ता है । ऐसा होने पर जो लोग मनुष्य का पर्याय वाची मान कर मानव शब्द का प्रयोग करते हैं वहां अज्ञान ही कारण जान पड़ता है क्योंकि मनुष्य शब्द के तुल्य मानव शब्द जाति वाचक नहीं है किन्तु सृष्टि के आरम्भ में वा पीछे हुए मनु नामक पुरुष के कुल में उत्पन्न हुए पुत्र पौत्रादि का नाम मानव हो सकता है । कोशकारों ने भी अपने २ पुस्तकों में मानव शब्द को मनुष्य पर्याय बुद्धि से रक्खा है इस लिये वहां भी भ्रान्ति ही जाननी चाहिये । जाति अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय के ही विधान करने से मानव शब्द में अजाति में अण् प्रत्यय का होना अर्थापत्ति से ही सिद्ध है । और जो मानव शब्द धर्म वा धर्मशास्त्रादि का विशेषण है वहां (तस्येदम्) सूत्र से सामान्य सम्बन्धार्थ में अण् प्रत्यय जानना चाहिये। मनु शब्द साधारण मनुष्य का भी नाम हो सकता है यह लिख भी चुके हैं । अधिकांश में इसी पक्ष का आश्रय ले कर महाभाष्यकार ने यह कारि का पढी है कि (अपत्ये कुत्सिते०) मनु शब्द से निन्दित अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय और नकार को मूर्द्धन्य णकारादेश हो जाता है । जिस से माणव शब्द बनता है ।

इस से मनु नामक पुरुष के निन्दित सन्तान की माणव संज्ञा है। मानव शब्द किसी प्रकार गोत्र जाति के तुल्य अवान्तर जाति का वाचक हो जावे तो भी एक प्रकार की उत्पत्ति वाले एक जाति कहाते हैं जैसे मनुष्य पशु पक्षी आदि इस जाति लक्षण को मान कर सिद्ध किये मनुष्य मानुष शब्दों की अपेक्षा मानव शब्द का जाति वाचक नहीं होना ही कह सकते हैं।

और यदि माणव शब्द में परमेश्वर वाची मनु शब्द से ही निन्दित अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय हो तो भी कोई दोष नहीं। इसी प्रकार मनुष्य मानुष शब्दों में भी अपत्य अर्थ मानने पर भी दोष नहीं क्योंकि हम सब उसी सर्वशक्तिमान् परमात्मा के सन्तान ही हैं वह हमारा पिता है सृष्टि के आरम्भ में हम सब को उसी ने उत्पन्न कर रक्षा की उस समय वही हमारा माता पिता था इस कारण उत्पादक और रक्षक होने से वह सब का पिता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अस्सी सूक्त के सोलह वे मंत्र में (मनुष्पिता) इत्यादि शब्दों से सब चराचर जगत् का पिता मनु है ऐसा स्पष्ट कहा है। इसी प्रकार अन्य शाखा ब्राह्मणों में भी सैकड़ों प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिन से सब का उत्पादक मनु नामक परमात्मा ही सिद्ध होता है।

उस परमेश्वर की सृष्टि में धर्म अधर्म आदि का सामान्य प्रकार मनन करने वाले स्त्री पुरुष मनुष्य और अपने कर्त्तव्य से पतित हुए निन्दित मनुष्य माणव कहाते हैं। ऐसा होने पर कोश कर्त्ताओं ने माणव शब्द को बालक का पर्याय वाचक कहा है सो उनका लेख प्रामादिक प्रतीत होता है क्योंकि बालकों को निन्दित इस लिये नहीं ठहरा सकते कि जो उस काम के करने में समर्थ हो कर न करे वह निन्दित कहाता है परन्तु बालक लोग धर्म अधर्म का विवेक करने का सामर्थ्य ही नहीं रखते इस लिये माणव शब्द का प्रयोग धर्महीन पशुओं के समान वर्त्ताव करने वाले निन्दित मनुष्यों में करना चाहिये। कोई कहे कि बालक भी अज्ञानी का नाम है वैसे माणव भी मान लिया जाय तो यह किसी प्रकार बन सकता है परन्तु बालक शब्द अज्ञानी का वाचक वास्तव में नहीं किन्तु गौण प्रयोग है कि बालक भी अज्ञानी होता है इस लिये ज्वान हो कर भी अज्ञानी रहे तो बालक के तुल्य अज्ञानी वा अनधिकारी माना जाता है। इस प्रकार यहां माणव शब्द बालक के साथ गौणार्थ में भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि बालकों का निन्दित होना स्थिर नहीं और कोई बाल्यावस्था में

निन्दित हो कर भी आगे सम्हल जाते हैं इस कारण निन्दित कहना ठीक नहीं और वही पूर्वोक्त पक्ष ठीक है। इस उक्त प्रकार समय और अवसर के अनुसार बहुतों का नाम मनु आता है परन्तु जो धर्म की व्यवस्था करने वालों में सब का गुरु धर्म के उपदेशकों में मुख्य मनु हुआ उसी का नाम ब्रह्मा भी था। मैत्रायणीय ब्राह्मणोपनिषद् और तैत्तिरीय कृष्णयजुःसंहिता में मनु और ब्रह्मा एक ही के नाम हैं यह स्पष्टता से दिखा गया है। इस लिये विद्वान् लोगों को विचारना चाहिये कि पहिले हुए शिष्ट लोगों के अनुकूल यह सिद्धान्त है किन्तु मैंने नवीन कल्पित नहीं मान लिया है। यदि कोई कहे कि यहां स्मृति के प्रसङ्ग में भी ब्रह्मा नाम से ही व्यवहार क्यों नहीं किया गया जिससे सन्देह ही न होता? इस का उत्तर यह है कि उस पुरुष ने वेद के अर्थ का मनन स्मरण किया इस से मनु नाम रक्खा गया। शङ्का के भय से कोई काम रोके नहीं जाते। जिस २ का सेवन किया जाता वा शास्त्र बनाया जाता है उन सब में थोड़ी बुद्धि वालों को सन्देह हुआ करते हैं विद्वान् लोग औषधि से रोग के तुल्य सिद्धान्तरूप वचनों से सन्देहों को निवृत्त कर देते हैं। और मनुस्मृति का ब्रह्म-स्मृति नाम भी है परन्तु उसका विशेष प्रचार उस नाम से नहीं है। अब यह सिद्ध हो गया कि मनु नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा है उसी ने इस धर्म शास्त्र का उपदेश सृष्टि के आरम्भ में किया। इस लिये यह विषय समाप्त किया जाता है॥

अथेदानीं कोऽयं मनुरिति प्रतिपादनानन्तरं कदा किमर्थं केनेदं शास्त्रमनुशिष्टमिति प्रतिपाद्यते। मनुस्मृतिर्मानवधर्मशास्त्रं वेति लोकेऽस्याः स्मृतेर्नाम प्रकटम्। तस्यायमाशयः—मनुना ब्रह्मणा सर्गारम्भे सर्वेषां वेदानामनुसन्धानं कृत्वा लोकव्यवहारव्यवस्थापनायाचारस्य प्रचाराय च सूत्रादिरूपवाक्याकारैर्धर्मउपदिष्टो नतु तदा किमपि पुस्तकाकारेण लिखितम्। तस्य चोपदेशस्य शास्त्रत्वमविरुद्धमेव। नहि शास्त्रशब्दो लेखनक्रियामपेक्षते। तथा चोक्तं वात्स्यायनेन महर्षिणा न्यायसूत्रभाष्ये—इतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रमिति। नह्येतेन लिखितस्य मुद्रितस्य वा पुस्तकस्य शास्त्रं नामायाति। मनोर्ब्रह्मणः स्मरणं वेदार्थानुसन्धा-

नेन तन्मूलकतया व्यवहारव्यवस्थायै योऽसौ विचारः सा मनुस्मृतिः। तथा मनुना ब्रह्मणा सर्गारम्भे प्रोक्तो मानवो मानवश्चासौ धर्मो मानवधर्मः स शिष्टोऽस्मिंस्तत्पदवाक्यादिसमुदायरूपं मानवधर्मशास्त्रम्। अथवा मनोरयमनुभवसिद्धो मानवो धर्मः। प्रोक्तइत्यर्थे। द्विष्टः प्रत्ययो वेदमूलकतामस्य धर्मस्य बोधयति। सनातनं किमपि मूलमाश्रित्य यच्छास्त्रं क्रियते तत्रैव प्रोक्तप्रत्ययः सम्भवति। अतएव प्रोक्तप्रकरणानन्तरं कृतेग्रन्थइति प्रकरणं निबद्धं पाणिनिना। प्रोपसृष्टवचधातोः सम्पन्नप्रयोगाणामध्यापने प्रचारे लुप्तप्रायस्योद्धारे प्रकारान्तरेण ज्ञाप्यमाने चार्थे यथासम्भवं प्रवृत्तिरिति पतञ्जलिनो महाभाष्यकारस्याप्याशयः। एवं सत्येव माध्यन्दिनीयवाजसनेय्यादिनामानि वेदसंहितानामपि निर्दोषं सम्भवन्ति॥

पुरा सर्गारम्भे वेदानामपि वाक्यपदच्छन्दाकारैरेवोपदेशो गुरुशिष्ययोरविच्छिन्नपरम्परया प्रचरित आसीत्। एकेन स्वगुरुतो यथावच्छ्रुत्वाऽन्येभ्यः स्वशिष्येभ्यस्तथैवोपदिष्टस्तैश्चान्येभ्य एवं वेदा धर्मशास्त्रवाक्यानि च सर्वेषां कण्ठस्थान्यासन्। कण्ठस्थे च शास्त्रे यथाविद्याफलमध्येतॄणामध्यापकानां वा सम्भवति न तथा पुस्तकस्थपाठेन। तथाचोक्तम्—पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्। कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनमित्यादिनानुमेयं धीमद्भिः। इत्येवमनुसन्धाय तदानीन्तना जना लेखनप्रवृत्तिं न प्रचारितवन्तः। सति च लेखनक्रियारम्भेऽन्तेवासिनः पुस्तकस्थं ज्ञात्वा पुस्तकाश्रयेण यथावसरं वयं द्रष्टुं समर्थाइति मत्त्वा च कण्ठस्थं शास्त्रं न करिष्यन्तीति विचार्य च लेखनक्रियाप्रचारं हानिकरमनुभूतवन्तश्च॥

नहीदं वक्तुमुचितं तदानींतनैर्लेखनसाधनान्येव नोपलब्धानि नवा ते लेखनक्रियां ज्ञातवन्तइति । सर्वासां क्रियाणां परमात्मनैव वेदद्वारोपदिष्टत्वात् । यादृशं लेखनमिदानीं प्रवृत्तं तादृशं तदानीं मास्तु तथाप्यभावो वक्तुमशक्यः । नह्यभावाद्भावः सम्पद्यते प्रकारान्तरता तु भवत्येव तथैव पुराऽन्यप्रकारकं लेखनमासीत् । लेखनमङ्कनं सचिन्हीकरणं भित्यादिषु प्रतिबिम्बचित्रनिर्माणं वासस्सु चित्रीकरणं सर्वमिदं लेखनान्तर्गतमेव । यदा च पूर्वमकारादिवर्णाकृतीनां निर्माणं सर्गारम्भएव विद्वद्भिः कृतम् । पुनर्लेखनक्रिया नासीदिति वदतो व्याघातः । इदं च प्रकरणान्तरम् । पुरा लेखनप्रवृत्तिः पुस्तकाकारेण नासीदिति बहुभिः कारणैः प्रतीयते ॥

सर्गारम्भे शास्त्राण्यपि बहूनि नासन्नपितु वेदाद्भिन्नं किमप्येव शास्त्रमासीत्तेषां च कण्ठस्थकरणं सुगममेव । यानि च वेदादितराणि शास्त्राणि धर्मसूत्रादिरूपेण लघुत्वेन निर्मितानि तस्मात्तेषां कण्ठस्थकरणं सुलभमप्यासीत् । अनन्तरं यदा शनैः शनैरन्यानि वेदानुगानि शास्त्राणि विद्वद्भिः सामयिकव्यवहारव्यवस्थापनाय वेदार्थस्य विशेषप्रचाराय च निर्मितानि तदा शास्त्राणां बाहुल्येन कण्ठस्थकरणाशक्यत्वात्क्रमशो विद्याधर्मादीनां न्यूनसेवनाच्च शक्तिहीनानां भाविजनानामुपकाराय शास्त्राणि पुस्तकाकारेण कृतानि । पूर्वकाले सत्त्वगुणप्रचारप्राचुर्याद्रजोगुणिनः पुरुषा बहवो नासन् । सत्त्वगुणिनश्च पुरुषाः स्वनामख्यापनाय प्रयत्नविशेषमकृत्वाऽन्येषां मूलपुरुषाणां नाम्नैव तानि कृत्यानि प्रचारितवन्तः । तथाचेयं मनुस्मृतिः पूर्वं सर्गारम्भे सूत्रादिस्थवाक्याकारैर्मनुनोपदिष्टाऽऽसीदनन्तरं भृगुणा स्वशिष्येभ्य उपदिष्टासीत् । तदानीं भृगुणैव पुस्तकाकृतिं प्रापिता ।

केचिद्वदन्ति भृगुशिष्येण केनचिदियं निर्मिता तथासत्येव स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे। मनुप्रणीतान् विविधान् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् । इति प्रारम्भे धृतः कौत्रचित्कः श्लोकः सार्थको जायते। यद्ययं पक्षः सार्थकः स्यात्तर्हि येषां मतं भृगुप्रोक्तेयं संहितेति तद्विरुध्यते । श्लोकश्चायं सर्वपुस्तकेषु नोपलभ्यते । तेनैकदेशित्वं तस्य सिद्धमेव । व्यूलरसाहवेनापीदमेवोक्तम् । कुत्रचिदुपलभ्यमानोऽयं श्लोकः पश्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्तइति । यद्ययं पुरातनः स्यात्तर्हि सर्वपुस्तकेषूपलभ्येत । तस्मादधिकसम्मतौ मदीयापि सम्प्रतिरियमेवास्ति भृगुप्रोक्तेयं संहिता स च श्लोकः कैश्चित् प्रक्षिप्तइति । भृगुणा प्रोक्तापीयं संहिता सर्गारम्भे मनुरेवास्य धर्माशयस्य प्रवर्त्तकइतिमनस्याधाय तेन मनुनाम्नैव प्रचारिता तच्च तथ्यमित्थं सत्येव वेदानामीश्वरवाक्यत्वं सम्भवति । ईश्वरस्य ज्ञानमात्रं वेदा नतु तेन पुस्तकाकारेण निर्मिताः । किन्तु महर्षिभिः पुस्तकाकृतिं प्रापितास्तथापि परमात्मनिःश्वसिता वेदा उच्यन्ते नतु केनचिन्महर्षिणा निर्मिताइति प्रसिद्धाः । एवमिहापि मनुनाम्नो ब्रह्मण इदं स्मरणं भृगुणा च विशेषदशायां पुस्तकाकारेण कृतं तथापि यथा मनुना स्मृतं सएवाभिप्रायः पुस्तकाकारमापन्नइति मनुस्मृतित्वं तस्य सार्थकमेव । अत्रान्यस्मृतीनामाधुनिकत्वं तदाशयैर्मनूक्तस्यानुवादनेन चावगम्यते। इयं च पुरातनापि यत्रतत्रान्तरान्तरा बहूनां पद्यानां कैश्चिन्मतवादिभिः प्रक्षिप्तत्वान्नूतनतरेव प्रतिभाति । एवं भ्रान्तएवव्यूलरसाहवोऽस्यानूतनतरत्वं प्रतिपादयति। तस्यां भ्रान्ताविदमपि कारणमनुमीयते—तेषां मतमतिनूतनतरं ततः पूर्वमन्येषामपि नासीदिति तथैव तेऽनुमिन्वन्ति तेषां बुद्धौ सृष्टिरपि चतुःसहस्रात्

पञ्चसहस्राद्वा वर्षात्पूर्वं नासीन्नच किमपि शास्त्रमासीत्। एतद्देशीयसूर्यसिद्धान्तनामकएको निबन्धो यएतस्या वर्त्तमानचतुर्युग्याष्टाविंशतितमायां निर्मितस्तत्र वत्सरसंख्यापि धृतास्ति। तन्निर्माणे कतिचिल्लक्षाणि वर्षाणि व्यतीतानि। एवं ततोऽप्यधिकप्राचीनतराणि पुस्तकानि दृश्यन्ते। कालस्य परिमाणं कालविभागानां वर्णनं कल्पप्रलयादीनां च वर्णनं सूर्यसिद्धान्तावुपलभ्यते। तेन सिद्धं सृष्टिरियमर्बुदवर्षसंख्यातः प्रवृत्तास्ति। तदारभ्य किं मनुष्या विद्याधर्मादिविहीना एवासन्निति कथनं कश्चिद्धीमानङ्गीकर्त्तुमर्हति ?। यदि कश्चित्सनातनईश्वरोऽभिमतस्तर्हि तेनोत्पादनकालएव मनुष्येभ्यः किमपि ज्ञानं दत्तमिति मन्तव्यम्। अन्यथा परमात्मनि दोषः स्यात्। नच तस्य किमपि कार्यं प्रामादिकं दृश्यते तस्मात्सिद्धमेतन्मनुस्मृतिरपि सर्गारम्भादेव रूपान्तरेणासीत्सा च कतिचित्कालानन्तरं भृगुणा पद्यरूपेण निर्मिता तदापि मन्वाशयानुकूलत्वान्मनुस्मृतिरेव नाम रक्षितम्। पूर्वं पद्यरचना नासीदित्यपि कस्यचित्कथनं न सम्भवति। वेदेऽपि सर्वविधपद्यानां प्रत्यक्षदृष्टत्वात्। यदा च वेदे पद्यरचना परमात्मनैव पूर्वं दर्शिता तेषामेव प्रचारका अध्यापका ज्ञातारश्च ब्रह्मादयो पद्यरचनां नैव ज्ञातवन्तइति कथनमाशामोदकायितमेवेत्यनुमिन्वे। इदन्तु सत्यं यत्प्रायशः पद्यरचनां तदानीन्तना नैवानुष्ठितवन्तइति तस्यैतत्प्रयोजनम्। बह्वर्थप्रतिपादकं स्वल्पमेव शास्त्रं स्यादिति लाघवबुद्ध्या तदानीं स्वल्पाक्षराणि बह्वर्थवन्ति सूत्राणि प्रायशो व्यरचयन्। येनाध्येतारो ब्रह्मचर्याश्रमसमयेनैव सर्वाणि शास्त्राण्यध्येतुं समर्था यथास्युरिति। केचित्पद्यरूपेणापि शास्त्राणि व्यरचयन्। यथा भृगुणेयं स्मृतिरिति। यथा

वा त्रेतायां सूर्यसिद्धान्तः । अधुनासिद्धमेतद्यत्सर्गारम्भे मनुनेयं स्मृति वेदाशयाश्रयेण सूत्ररूपवाक्याकारैर्मनुष्याणां व्यवहारव्यवस्थापनायोपदिष्टा । तदनन्तरं भृगुणा पद्यरूपेण संकलिता । यथेदानीन्तननिर्मितपुस्तकेषु प्रचरितसंवत्सरस्य नाम रक्ष्यतेऽमुकसंवत्सरे पुस्तकमिदममुकजनेन निर्मितमिति तथा पुरा परिपाटी नासीत्। आसीच्चेत्कैश्चिन्नाशिताऽतएव कस्मिन्वत्सरे निर्मितमिति वक्तुं न शक्यते । तथापीदं ज्ञायतेऽस्मिन् कल्पे सर्गानन्तरं सर्वशास्त्रनिर्माणात्पूर्वं परमात्मतो वेदोपदेशमवाप्य मनुनादाविदमेव धर्मशास्त्रमुपदिष्टम् । तदा च पुस्तकाकारेण नासीत् । पश्चाद्द्विशतवर्षाभ्यन्तरे भृगुणा पद्यरूपेण संकलिता तदनन्तरमतीते कस्मिंश्चित्समये कैश्चिदन्यैर्महर्षिभिः पुस्तकाकृतिं प्रापिता । ततः पूर्वं पद्यरूपस्याप्यविच्छिन्नगुरुशिष्यपरम्परया प्रचार आसीत् । यथा प्रचारमेव पूर्वं लिखिता पश्चात्कैश्चित्कुत्रकुत्रचिन्मध्ये तस्मिन्प्रक्षिप्तम् । अयं च दृढएव राद्धान्तः ॥

यदि कथंचिद्व्यूलरसाहवादीनां कथनानुकूलं केनचित्पश्चात्सहस्रद्वयवर्षाभ्यन्तरएव निर्मितमिति राद्धान्तः सिद्धो भवेत्तथाप्यस्माकं मतमिदम्–यद्यस्मिन्पुस्तके वेदानुकूलवर्णाश्रमादिधर्मः पक्षपातं विहायान्यस्मृत्यपेक्षया गम्भीराशयेन वर्णितः । अन्योपलब्धस्मृतिषु तादृशो धर्मोपदेशो नोपलभ्यते तर्हि वेदानुसरणमेवैतस्य मानवधर्मशास्त्रस्य प्राशस्त्ये हेतुरिति सर्वार्यसम्मतम् । यदि कथंचिदियं नूतनापि निर्मिता स्यात्तथापि मनुस्मृतित्वमस्य ग्रन्थस्याविरुद्धमेव । नहि किमपि निर्मूलं प्ररोहतीति न्यायमाश्रित्य मनुनोपदिष्टः सूत्रादिवाक्याकारः पुरातनो धर्मोऽविच्छिन्नगुरुशिष्यपर-

म्परया प्रचरित आसीत्तदाश्रयेणैव केनचिद्विदुषा पद्याकृतिं प्रापितस्तत्राप्यादिकर्त्तुर्मनोरेव प्राधान्यान्मनुस्मृतिरियमिति सम्भवति नायमस्माकं पक्षोऽपि त्वेवं सत्यपि कथंचिदस्या आधुनिकत्वे समूलत्वात्प्राशस्त्यं मन्तव्यमेवेत्याशयः । स्वानुमतिः पूर्वमेवोक्ता ॥

भाषार्थः—अब द्वितीय प्रकरण का विचार किया जाता है कि किस समय किस लिये किस पुरुष ने यह धर्मशास्त्र बनाया लोक में मनुस्मृति वा मानवधर्मशास्त्र नाम से यह पुस्तक प्रचरित है । इसका अभिप्राय यह है कि मनु नाम ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में सब वेदों का अनुसन्धान–पूर्वापर विचार कर के संसार के व्यवहार की व्यवस्था करने और अच्छे आचरणों का प्रचार होने के लिये सूत्रादि रूप वाक्यों में धर्म का उपदेश किया किन्तु उस समय कुछ भी विषय पुस्तकाकार से लिखा नहीं गया था। उस उपदेश को शास्त्र करके मानना वा कहना विरुद्ध इस लिये नहीं है कि शास्त्रशब्द का व्यवहार लेखनक्रिया की अपेक्षा नहीं रखता । महर्षि वात्स्यायन जी ने न्याय सूत्र के भाष्य में शास्त्र का लक्षण भी यही किया है कि परस्पर सम्बन्ध रखने वाले अर्थ समूह का उपदेश शास्त्र है इस से लिखे वा छपे पुस्तक का नाम शास्त्र नहीं आता । मनु नामक ब्रह्मा जी ने वेद के अर्थ का अनुसन्धान करके वेद को मूल मान कर व्यवहार की व्यवस्था करने के लिये किया जो विचार वह मनुस्मृति कहाती है । और मनु नामक ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आरम्भ में कहा मानव धर्म उसका उपदेश जिस में है वह पद और वाक्यादि रूप मानवधर्म शास्त्र कहाता है । अथवा मनु जी के अनुभव से सिद्ध हुआ मानवधर्म वह जिस में कहा गया वह मानवधर्मशास्त्र कहाता है । प्रोक्तार्थ में प्रत्यय करने से प्रतीत होता है कि मानवधर्म का मूल वेद है क्योंकि किसी सनातन धर्म शास्त्र को लेकर जो शास्त्र बनाया जाय उसी में प्रोक्त प्रत्यय होता है । इसी कारण प्रोक्ताधिकार के पीछे (कृते ग्रन्थे) प्रकरण पाणिनि ने रक्खा है । और प्र उपसर्ग पूर्वक वचधातु से सिद्ध हुए प्रयोगों की पढ़ाने, प्रचार करने' विशेष लुप्त हुए शास्त्रों को निकाल कर चलाने, और प्रकारान्तर से व्याख्यान कर सब को जताने अर्थ में यथासम्भव प्रवृत्ति होती है यह महाभाष्यकार पतञ्जलि महर्षि का आशय प्रोक्ताधिकार के व्याख्यान से प्रतीत होता है । ऐसा मानने से ही वेदों की संहिता के भाष्य-

न्दिनीय और वाजसनेयी आदि नाम निर्दोष बन सकते हैं। अर्थात् माध्यन्दिन वाजसनेय आदि ऋषियों के नाम से वेद की संहिता प्रसिद्ध हैं इस का अभिप्राय यही है कि जिन २ ऋषि जनों ने उन २ संहिताओं का विशेष कर अध्यापन वा उपदेशादि द्वारा प्रचार कराया उन २ के नाम से वे २ पुस्तक पचरित हो गये किन्तु उन पुस्तकों को ऋषियों ने बनाया नहीं। यदि प्रोक्त अधिकार के नवीन कृत्य माना जावे तो (कृते ग्रन्थे) प्रकरण पुनरुक्त होने से व्यर्थ हो जावे इस कारण प्रोक्त का वही अर्थ ठीक है कि जो ऊपर लिखा गया।

पहिले सृष्टि के आरम्भ में गुरुशिष्य की निरन्तर चलने वाली परम्परा के साथ वाक्य, पद और मन्त्र रूप से ही वेदों के उपदेश का प्रचार चलताथा। एक ने अपने गुरु से यथावत् सुन कर अन्य अपने शिष्यों के उपदेश किया और उन शिष्यों ने अपने अन्य शिष्यों के किया। इस प्रकार वेद और धर्मशास्त्र सम्बन्धी सूत्रादि रूप वाक्य सब पढ़ने पढाने वालों के कण्ठस्थ रहते थे। और शास्त्र के कण्ठस्थ होने से पढने पढाने वालों के विद्या का जैसा फल होना सम्भव है वैसा पुस्तकस्थ पाठ से नहीं हो सकता। इस पर किसी विचार शील पुरुष ने कहा है कि पुस्तक में पढी विद्या और पराये हाथ में गया धन ये दोनों ही समय पर उपयोगी नहीं होते इस से विचार शीलों के जान लेना चाहिये कि कण्ठस्थ करना सर्वोत्तम है। ऐसा विचार के ही उस समय के लोगों ने लिखने की प्रवृत्ति नहीं चलाई थी क्योंकि यदि पुस्तकें लिखी जावें तो विद्यार्थी पुस्तकस्थ अपनी सम्था के यथावकाश हम देख सकते हैं ऐसा मान कर शास्त्र के कण्ठस्थ न करेंगे ऐसा विचार के लेखन प्रक्रिया का चलाना हानिकारक समझते थे। और यह कदापि कहना ठीक नहीं बनता कि उस समय के लोगों को लिखने का सामान नहीं मिला अथवा उनको लेखन क्रिया ज्ञात नहीं थी। क्योंकि वेद द्वारा परमेश्वर ने सब क्रियाओं का उपदेश पहिले ही किया है। जैसी लिखने की परिपाटी इस समय है वैसी पहिले न हो यह हो सकता है तो भी अभाव नहीं कह सकते क्योंकि अभाव से भाव नहीं होता किन्तु संसार के कार्यों का प्रकार बदलता रहता है। इसी के अनुसार पूर्वकाल में अन्य प्रकार का लिखना था अर्थात् पुस्तकें नहीं लिखी जाती थीं तो भी भित्ति आदि पर प्रतिबिम्ब रखना वस्त्रों पर अनेक चित्र काढना वा छापना वा किसी में मोहर लगाना वा किसी को अङ्कित करना इत्यादि सब काम लिखने के अन्तर्गत ही

समझे जाते हैं। और जब पूर्वकाल सृष्टि के आरम्भ में ही अकारादि वर्णों की आकृति विद्वान् लोगों ने बनाई तो फिर लेखनक्रिया नहीं थी यह कहना ठीक नहीं किन्तु अपने ही कथन को काटना है। अब यह प्रकरणान्तर है इस लिये इस पर विशेष न लिख कर मुख्य प्रकरण की बात करनी चाहिये। अर्थात् पहिले सृष्टि के आरम्भ में शास्त्रों को पुस्तकाकार लिखने की प्रवृत्ति नहीं थी यह बहुत कारणों से प्रतीत होता है॥

सृष्टि के आरम्भ में शास्त्र भी बहुत नहीं थे किन्तु वेद से भिन्न कोई ही शास्त्र बना था उन थोड़ों का कण्ठस्थ करना भी सहज ही था और जो वेद से भिन्न धर्मसूत्रादि रूप से शास्त्र बने थे वे छोटे २ थे इस कारण उनका कण्ठस्थ करना सुलभ भी था। पीछे जब धीरे२ समय के अनुसार व्यवहार चलाने और वेद के आशय का विशेष प्रचार कराने के लिये आवश्ययकता के अनुसार विद्वान् लोगों ने अन्य शास्त्र बनाये तब अनेक शास्त्रों के बढ़ जाने से कण्ठस्थ करना दुस्तर था इस कारण क्रम २ से विद्याधर्मादि का न्यून सेवन होसकने की शङ्का से आगे होने वाले शक्तिहीन पुरुषों के उपकार के लिये बने हुए शास्त्र पुस्तकाकार किये गये। पहिले समय में सत्त्व गुण के प्रचार की अधिकता से रजोगुणी पुरुष बहुत नहीं थे। और सत्त्वगुणी पुरुषों का यह स्वाभाविक धर्म है कि वे अपना नाम प्रसिद्ध करने के लिये विशेष प्रयत्न न करके अन्य प्रथमोपदेष्टा पुरुषों के नाम से ही अपने निमित्त मात्र कामों को भी प्रचरित करते थे। ऐसे ही यह मनुस्मृति सृष्टि के आरम्भ में सूत्रादिरूप वाक्य रूपों से मनु जी ने उपदेश की तिस पीछे भृगु जी ने अपने शिष्यों को उपदेश की और भृगु जी ने ही पद्यरूप से क्रम बद्ध आकार में बनायी। कोई लोग कहते हैं कि भृगु के किसी शिष्य ने यह पुस्तक बनाया और ऐसा मानने पर ही (स्वयम्भुवे०) यह प्रारम्भ में धरा गया किन्हीं२ पुस्तकों में प्राप्त होने वाला श्लोक सार्थक हो सकता है। सो यदि इस पक्ष को सत्य माना जावे कि भृगु के किसी शिष्य का बनाया यह मनुस्मृति पुस्तक है तो जिनका मत है कि भृगुप्रोक्त यह संहिता है वह विरुद्ध पड़ेगा। और वह श्लोक भी सब पुस्तकों में नहीं मिलता इस से उसका एकदेशी होना सिद्ध ही है। तथा ब्यूलर साहब ने भी यही कहा है कि कहीं २ मिलने वाला यह श्लोक पीछे किन्हीं लोगों ने मिलाया है। यदि वह श्लोक पहिले से होता तो सब पुस्तकों में मिलना चाहिये था इस से अधिकांश सम्मति के अ-

नुसार मेरी भी सम्मति यही है कि यह पुस्तक भृगु का बनाया है और (स्वयम्भुवे०) यह श्लोक किन्हीं का पीछे से मिलाया हुआ है। भृगु ने बनाया भी पर सृष्टि के आरम्भ में मनु ही इस धर्म के आशय के प्रवर्त्तक हैं कि जिस को मैंने श्लोक बद्ध किया मेरा कुछ इस में नवीन कृत्य नहीं ऐसा मन में विचार के उन्हों ने मनु के नाम से ही प्रचरित की और यह बात सत्य भी है। क्योंकि ऐसा होने पर ही वेदों को ईश्वर का वाक्य कह सकते हैं अर्थात् ईश्वर का ज्ञान मात्र वेद हैं उसने पुस्तकाकार वेद नहीं बनाये किन्तु महर्षि लोगों ने पुस्तकाकार किये हैं तो भी परमात्मा से वेद उत्पन्न हुए ऐसा कहा वा माना जाता है किन्तु किसी महर्षि ने वेद बनाये ऐसा प्रसिद्ध नहीं। इसी प्रकार मनु नामक ब्रह्मा ने इसका स्मरण किया और भृगु ने विशेषदशा में पद्यरूपाकार से बनाया तो भी जैसा मनु ने स्मरण किया था वही आशय पुस्तकाकार में लाया गया इस लिये इस पुस्तक को मनुस्मृति कहना वा मानना ठीक ही है किन्तु निरर्थक नहीं। तथा अन्य स्मृतियों का पीछे बनना आधुनिक होना उन२ के आशयों और उन में इसी का अनुवाद दीख पड़ने से प्रतीत होता है। और यह मनुस्मृति पुरानी भी है तो भी जहां तहां बीच२ में इतिहासादि सम्बन्धी अनेक श्लोक किन्हीं मतवादियों ने मिला दिये हैं इससे अत्यन्त नवीन प्रतीत होती है। ऐसी ही बातों को देख कर ब्यूलर साहब को भी भ्रान्ति हो गई जिस से उन्हों ने इस को अति नवीन ठहराया है। उनको भ्रान्ति होने में अनुमान से यह भी कारण जान पड़ता है कि जैसे ईसाई मत अति नवीन है इस से थोड़े इधर उधर तक का समाचार उन्हों ने लगा पाया है। जैसे दो तीन सहस्र वर्ष से पूर्व हमारे मत वा कुटुम्ब के नाम तक का पता नहीं वैसे अन्य भी कोई मत पहिले नहीं था। इन लोगों के मत वा सिद्धान्त से चार पांच वा छः सहस्र वर्षों के पूर्व सृष्टि भी नहीं थी और न कोई शास्त्र था। परन्तु यह उन लोगों का विचार ठीक नहीं क्योंकि इस आर्यावर्त्त देश में सूर्यसिद्धान्त नामक एक पुस्तक है जो वर्त्तमान इस चतुर्युगी के त्रेतायुग में बनाया गया उस में स्पष्ट लिखा है कि इस अट्ठाईशवीं चतुर्युगी में से अब तक केवल सद्युग बीत गया। उस पुस्तक को बने कई लाख वर्ष बीत गये। इसी प्रकार उससे भी अत्यन्त प्राचीन पुस्तक इस देश में हैं। तथा काल का परिमाण, काल के अवयवों का वर्णन और कल्प तथा प्रलयादि का वर्णन सूर्यसिद्धान्तादि आर्यों के पुस्तकों में मिलता है तिस से

सिद्ध है कि इस सृष्टि को उत्पन्न हुए अर्व से ऊपर २ वर्ष बीत चुके। तब से लेकर क्या मनुष्य विद्या धर्म आदि से रहित ही थे? और ऐसा कथन कोई बुद्धिमान मान सकता है? कदापि नहीं। यदि कोई सनातन ईश्वर माना जावे तो उस ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को कुछ ज्ञान दिया ऐसा मानना चाहिये अन्यथा परमेश्वर में दोष आवेगा। और परमेश्वर के किसी काम में भूल है नहीं। इस से सिद्ध हुआ कि मनुस्मृति भी सृष्टि के आरम्भ से ही रूपान्तर में थी वह कुछ काल पीछे भृगु ने पद्यरूप में बनायी तब भी मनु जी के अभिप्रायानुकूल होने से मनुस्मृति नाम रक्खा गया। इस आर्यावर्त्तदेश में पहिले श्लोक बनाने की परिपाटी वा ज्ञान नहीं था यह भी किसी का मानना वा कहना सम्भव नहीं क्योंकि वेद में सब प्रकार की छन्दरचना प्रत्यक्ष दीखती है। जब वेद में परमेश्वर ने श्लोक बनाने की प्रक्रिया पहिले ही दिखा दी है तो उन्हीं वेदों के पढ़ने पढ़ाने जानने और प्रचार करने वाले ब्रह्मादि लोग श्लोक रचना की रीति न जानते हों यह कदापि सम्भव नहीं। परन्तु यह सत्य है कि प्रायः उस समय के लोग आज कल के तुल्य श्लोक रचना नहीं करते थे उस का अभिप्राय यह था कि बहुत अर्थ जिस में से निकले ऐसा छोटा शास्त्र बने ऐसी लाघवबुद्धि से थोड़े अक्षरों तथा गम्भीर वा बहुत अर्थ वाले सूत्ररूप ग्रन्थों को प्रायः रचते थे। जिस से विद्यार्थी लोग ब्रह्मचर्य आश्रम के समयभर में सब शास्त्रों को पढ़ सकें। पर तो भी सर्वथा पद्यरचना का अभाव नहीं था अर्थात् कोई २ श्लोकबद्ध भी शास्त्र बनाते थे। जैसे भृगु जी ने यह स्मृति बनायी वा जैसे त्रेतायुग में सूर्यसिद्धान्त पद्यरूप से बनाया गया। अब यह सिद्ध होगया कि सृष्टि के आरम्भ में वेद के आश्रय से सांसारिक व्यवहार की ठीक व्यवस्था चलाने के लिये सूत्रादि वाक्यरूपों से मनु जी ने इस स्मृति का उपदेश किया उसके पीछे भृगु ने श्लोकरूप से बनाया। जैसे इस समय बनने वाले पुस्तकों में संवत्सर का नाम रक्खा जाता है कि अमुक संवत् में अमुक पुरुष ने यह पुस्तक बनाया वैसी परिपाटी पहिले नहीं थी और कदाचित् हो तो किन्हीं लोगों ने पीछे नष्ट कर दी। इसी से किस संवत् में यह पुस्तक बना यह कहना नहीं बन सकता तो भी अनुमान से हम जान सकते हैं कि इस कल्प में संसार की उत्पत्ति होने पश्चात् परमेश्वर से वेद का उपदेश पा कर अन्य शास्त्र बनने से पूर्व ही मनु जी ने पहिले इस धर्मशास्त्र का उपदेश किया उस समय यह धर्मशास्त्र पुस्त-

काकार से नहीं लिखा था पीछे अनुमान दो सौ वर्ष के भीतर भृगु जी ने श्लोक रूप से बनाया। उसके पीछे कुछ काल बीतने पर किन्हीं अन्य ऋषि लोगों ने पुस्तकाकार किया उस से पूर्व श्लोकरूप का ही निरन्तर चलने वाली गुरु शिष्य की पठनपाठन प्रणाली से प्रचार था। और प्रचार के अनुसार ही पहिले लिखी गयी। पीछे कहीं २ बीच में किन्हीं लोगों ने कुछ२ मिला दिया यही इस प्रसंग में मुख्य और दृढ सिद्धान्त है॥

और यदि किसी प्रकार ब्यूलर साहब आदि के कहने अनुसार किसी ने दो सहस्र वर्ष के भीतर ही इस धर्मशास्त्र को बनाया ऐसा सिद्धान्त ठीक हो तो भी हमारा मत यह है कि यदि इस पुस्तक में अन्य स्मृतियों की अपेक्षा गम्भीराशय के साथ पक्षपात को छोड़ के वेदानुकूल वर्णाश्रमादि धर्म का वर्णन किया गया है और अन्य प्राप्त होने वाली स्मृतियों में वैसा धर्म का उपदेश नहीं प्राप्त होता तो वेद के अनुकूल होना ही इस मानवधर्मशास्त्र की उत्तमता में हेतु होगा। यह सब सज्जनों का सम्मत है कि जो वेदानुकूल है वही श्रेष्ठ है। और यदि किसी प्रकार इस का नवीन बनना सिद्ध हो जावे तो भी मनुस्मृति नाम रखना विरुद्ध नहीं है क्योंकि कारण के विना जब कोई कार्य नहीं होता तो मनु जी ने उपदेश किया सूत्रादि वाक्याकार पुरातन धर्म गुरु शिष्य की परम्परा से प्रचरित चला आता था उसी के आश्रय से किसी विद्वान् ने श्लोकरूप से बनाया उसमें भी आदि कर्त्ता मनु की प्रधानता से मनुस्मृति कहना सम्भव है। और इस को आधुनिक मानना हमारा पक्ष नहीं है किन्तु अन्य लोगों के मतानुसार किसी प्रकार कोई इस को आधुनिक मान ले तो भी समूलक वा वेदमूलक होने से प्रशंसा के योग्य अवश्य माननी चाहिये यह अभिप्राय है। और मैंने तो अपनी सम्मति पूर्व ही लिख दी है॥

तृतीयप्रकरणे शास्त्रस्य सामान्यतया विषयो विचारणीयइत्युद्दिष्टम्। तत्रेतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रमिति वात्स्यायनधृतशास्त्रलक्षणमनुसृत्य विचारः क्रियते। सर्वाणि तावच्छास्त्राणि सुखस्य सुखहेतूनामभीप्सां दुःखस्य दुःखहेतूनां च जिहासां पुरस्कृत्य विद्वद्भिर्निर्मितानि निर्मीयन्ते निर्मास्यन्ते च। तत्र सुखसुखहेतूनां दुःखदुःखहेतूनां तेषां हानप्रापणयोश्च देशकालवस्तुभेदेन भिन्नत्वान्नानाविधत्वाच्च कर्त्तृभेदाच्च शास्त्राणामपि बहुत्वम्।

यानि च पुस्तकानि कुदृष्टिभिर्निर्मितान्यतएव वेदबाह्यानि तमोगुणप्रधानानि तान्यपि दुःखदुःखहेतूनामभीप्साम्पुरस्कृत्य सङ्कलितानीति वक्तुमशक्यम् । नहि कश्चित्स्वार्थे परार्थे वा दुःखन्दुःखहेतून्वाऽभिलषति। यद्यपि परार्थे दुःखन्दुःखहेतून् वा केचिदभीप्सन्ति तथापि तदर्थे लौकिकव्यापारेण प्रयतन्ते । नहि तादृशमनीषया शास्त्रनिर्माणेन तस्यार्थस्य सिद्धिः सुलभा दृश्यते । यत्तु परमतनिराकरणोद्देशमेव प्रयोजनं पुरस्कृत्य शास्त्रं निर्मीयते तत्रापि स्वमतदूषकहेतुनिराकरणेन स्वदुःखनिवारणं स्वमतस्थगुणप्रकाशनेन च स्वसुखसम्पादनमेव मुख्यम्प्रयोजनम्। यत्र च परोपकारदृष्ट्यैव केवलं शास्त्रं निर्मीयते न कश्चित्स्वार्थउद्दिश्यते तत्रापि तेन कर्मणा शुभफलप्राप्तिरेव स्वार्थसिद्धिः प्रयोजनम्। यदि क्वापि सुखसुखहेतूनामभीप्सया दुःखःदुःखहेतूनां जिहासयापि निर्मितं शास्त्रं तत्र निर्मातुरविद्याग्रस्तत्वाद्दुराचारप्रवर्त्तकं स्यात्तथापि दुःखदुःखहेतून् पुरस्कृत्य निर्मितो ग्रन्थइति वक्तुमशक्यम् । नह्येवं मनसिकृत्य कश्चिद्ग्रन्थनिर्माणाय सन्नद्धो भवति। तस्मादुक्तएव राद्धान्तः साधुः। अज्ञनिर्मितग्रन्थानां शास्त्रत्वमपि न सम्भवति नहि तत्र समूलकउपदेशउपलभ्यते। यत्र चोपलभ्यते तत्र सुखसुखहेतूनामभीप्सा दुःखदुःखहेतूनां जिहासा च सङ्घटतएव । अतः सर्वसच्छास्त्राणां सामान्यतया सुखावाप्तेर्दुःखप्रहाणस्य च कारणमेव विषयः प्रयोजनश्च तत्रावान्तरभेदाश्च बहवः। एवमस्यापि धर्मशास्त्रस्य सामान्यतया सएव विषयः ।

यद्यपि प्राणिनां साधनानां च नानाविधत्वाद्विषयाणामपि नानात्वं सुवाच्यमेव तथापि सर्वशास्त्राणां त्रिषु भागेषु विभक्तत्वात्

त्रयएव मुख्यविषया अन्ये च तेषामेवावान्तरभेदाः। तथाचाह—न्यायभाष्ये वात्स्यायनः—यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः। लोकव्यवहारव्यवस्थापनन्धर्मशास्त्रस्य। लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य॥ अ० ४ आन्हिक १ सू० ६३ (६२)

अयमाशयः—कर्मोपासनाज्ञानानीति मुख्यतया वेदविषयः। यज्ञशब्दश्च तेषु प्रत्येकमभिसम्बद्धो दृश्यते यथा—विधियज्ञो योगयज्ञो ज्ञानयज्ञइत्यादि योगउपासनेत्यनर्थान्तरम्। तत्र कर्म द्विविधं धर्मोपार्जनाय धर्म्यं कर्म शिल्पक्रियार्थमर्थ्यं च। सर्वमपि कर्म मनोवाक्कायसम्भवन्त्रिविधमेव। शुभं सुखहेतुकमशुभं दुःखहेतुकमिति सर्वस्य कर्मणोऽपरं द्वैविध्यम्। सर्वसाधारणोपयोगिप्रायो वैदिङ्कर्म स्मार्त्तं च प्रायः स्वकार्यसाधकम्। कर्मोपासनाज्ञानेषु सर्वे विषया अन्तर्गता आयान्ति न कश्चिदतिरिच्यते। यदि कश्चिद्वदेत्पुनर्वेदाद्भिन्नो धर्मशास्त्रस्य को विषय? इति वेदादवशिष्ट उचित उपदेशो धर्मशास्त्रम्। यथा मूलाद् व्याख्येयाद्व्याख्यानं सदैवावशिष्टम्भिन्नमभिन्नं च तद्वद्धर्मशास्त्रस्य विषयो वेदाद्भिन्नोऽभिन्नश्च। कर्मोपासनाज्ञानाद्व्यतिरिक्तः कश्चिद्विषयो धर्मशास्त्रेषु नास्तीत्यभिन्नः कर्मादीनामवान्तरभेदाद्भिन्नः। यथेदं वैदिकं कर्मेदं च स्मार्त्तम्। वेदे साक्षादुपदिष्टं वैदिकं यच्च वेदे मूलरूपेणोपदिष्टं सङ्केतमात्रं सूचितं स्मृतिषु च कर्त्तव्यत्वेन स्पष्टमुपदिष्टं स्मार्त्तम्। जगति मनुष्यैर्वेदाज्ञाया घातको रक्षकश्चोभयविधो लोकयात्रासिध्यर्थो व्यापारः कर्त्तुशक्यते तत्र वेदाज्ञानां पोषकएवव्यवहारः कार्यो न तु कथञ्चन विपरीतइति धर्मशास्त्रस्याशयः। इत्थं क्रियमाणो व्यवहारो वेदानुकूलइत्थं च विपरीतइति धर्मशास्त्रेषु वर्णितम्। वेदानुकूलएव व्यापारः सुखसम्पादको दुःखविनाशकश्चास्ति।

यदा त्रिष्वेव भागेषु सर्वशास्त्राणि विभक्तानि तर्हि षड्दर्शनानामुपवेदादीनां च निबन्धानां का गतिरिति निशामय ! वेदार्थस्य विशेषप्रचाराय वेदमूलकतया यानि यानि शास्त्राणि ऋषिवरैर्लोकोपकाराय निर्मितानि तानि सर्वाण्येव धर्मशास्त्राणि स्मृतिरिति च तेषां सामान्येनापरं नाम। नहि मनुस्मृत्यादिपद्यनिबन्धे स्मृतिशब्दो रूढितया निबद्धोऽपितु कापिलस्मृतिर्योगस्मृतिरित्यादिशब्दैः शङ्करस्वामिनापि शारीरकमीमांसायां व्यवहारः कृतएव। तथा चान्यैः सूत्रकारैर्भाष्यकारैर्वा स्मृतिशब्देनैव व्यापारः क्रियतएव नहीदं विदुषामन्तर्हितम्। वस्तुतस्तु शास्त्राणां द्वैविध्यमेव वरम्। श्रुतिः स्मृतिश्च नत्वितिहासपुराणानि वास्तविकशास्त्राणि। किन्तु कालविशेषोत्पन्नविशिष्टशिष्टसज्जनचरित्रवर्णनेन कथञ्चिदकृतप्रज्ञान् मनुष्यानुद्बोधयन्ति यानि तत्र धर्मोपदेशनानि तेषां सति वेदमूलकत्वे धर्मशास्त्रेष्वन्तर्गतानि वैपरीत्ये च त्याज्यानीत्यखिलशिष्टसम्मतम्। धर्माधर्मयोरनुष्ठातॄणां दृष्टान्तरूपाणीतिहासपुराणानीति भावः। प्रयोजनवत्त्वं तु नैव तेषामस्माभिर्निराक्रियते। अतः सिद्धं कर्मोपासनाज्ञानानीति सामान्येन सर्वसच्छास्त्राणां विषयइति वेदस्तेषां मूलं महर्षिभिः प्रणीताः स्मृतिनामका निबन्धाश्च व्याख्यानरूपाः। एषां कर्मादीनामेव च धर्मत्वम्॥

भाषार्थः—तीसरी कोटि में सामान्य कर शास्त्र का विषय विचारना चाहिये यह लिख चुके हैं। वात्स्यायन ऋषि ने न्यायसूत्र के भाष्य में लिखा है कि "परस्पर सम्बद्ध प्रयोजनीय सुख के हेतु साधनों का जिस में उपदेश किया जाय वह शास्त्र है" इसी के अनुसार शास्त्र के विषय का विचार किया जाता है। प्रथम तो यह जानना अति आवश्यक है कि सब शास्त्र सुख तथा सुख के साधनों को प्राप्त करने की इच्छा और दुःख तथा दुःख के कारणों को छोड़ने की

इच्छा को आगे कर बनाये गये बनाये जाते और बनाये जावेंगे। इस में सुख सुख के कारण, दुःख दुःख के कारण और इन की प्राप्ति वा त्याग के भिन्न २ होने वा नाना प्रकार होने और कर्त्ताओं के भेद से शास्त्र अनेक होते हैं। और नीच प्रकृति वालों ने जो वेद विरुद्ध पुस्तक बनाये जिन में प्रायः तमोगुण सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। वे भी दुःख और दुःख के साधनों को प्राप्त होने की इच्छा से बनाये गये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सब कोई पुरुष अपने वा अन्य के लिये दुःख तथा दुःख के साधनों को नहीं चाहता। यद्यपि कोई दुष्ट नीच प्रकृति मनुष्य अपने से प्रतिकूल अन्य के लिये दुःख वा दुःख के कारणों का सञ्चय करते हैं तो भी उस के लिये संसारी व्यवहार से यत्न करते हैं किन्तु वैसी द्वेष बुद्धि रख कर शास्त्र बनाने से वह प्रयोजन सिद्ध होना सुगम नहीं प्रतीत होता। और जो दूसरे के मत खण्डन करना रूप उद्देश वा प्रयोजन को लेकर शास्त्र बनाया जाता है वहां भी अपने मत में दोष देने वाले हेतुओं के खण्डन से अपने दुःख का निवारण तथा अपने मत के गुणों के प्रकाशित करने से अपने को सुख पहुंचाना ही मुख्य प्रयोजन है। अर्थात् सब स्थलों में विचार कर देखा जाय तो अविद्याग्रस्त पुस्तक भी केवल किसी को दुःख मात्र पहुंचाने के लिये नहीं बनाये जा सकते। हां किसी समुदाय वा निज को भले ही उस से दुःख हो इस के अनेक कारण हो सकते हैं। अर्थात् सब शास्त्रों के बनाने वालों का मुख्य प्रयोजन वा विषय यही होता है कि कारणों के सहित दुःख को हठा कर सुख और सुख के साधन धनादि वस्तु प्राप्त हों। परन्तु अपना दुःख हठा कर सुख प्राप्ति का उपाय रचना सर्वत्र प्रधान रहता है और जहां केवल परोपकार दृष्टि से शास्त्र बनाया जाता है किन्तु उस में किसी प्रकार के स्वार्थ का उद्देश नहीं रक्खा जाता वहां भी उस कर्म के द्वारा ईश्वर की व्यवस्था से शुभ फल की प्राप्ति होना ही स्वार्थ सिद्धि प्रयोजन है। यदि कहीं साधनों सहित सुख की प्राप्ति और दुःख को निर्मूल हठाने के लिये भी बनाया शास्त्र उस अंश में बनाने वाले के अविद्वान् होने से दुराचार का प्रवृत्त करने वाला ग्रन्थ हो जावे तो भी दुःख वा दुःख के साधनों को लेकर ग्रन्थ बनाया ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मन में रख कर कोई पुरुष बनाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता इस लिये उक्त सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है। और अज्ञानी लोगों के बनाये ग्रन्थों को शास्त्र भी इस लिये नहीं कह सकते कि वेदमूलक शिक्षा उन में नहीं पायी जाती

और जहां२ वेदमूलक शिक्षा प्राप्त होती है वहां २ सुखों की प्राप्ति और दुःखों के हठाने की इच्छा प्रकट दीख पड़ती है इस लिये सब शास्त्रों का सामान्य कर सुखोंकी प्राप्ति और दुःखों के हठाने का कारण ही विषय वा प्रयोजन है। उस में अवान्तर–भीतरी अन्तरङ्ग भेद बहुत हैं। सब के तुल्य इस मानव-धर्मशास्त्र का भी सामान्य कर वही विषय है॥

यद्यपि प्राणी और सुख दुःखादि के साधनों के नाना प्रकार होने से विषयों के भी अनेक भेद होना सुगमता से ही कहा जा सकता है तो भी सब शास्त्रों के तीन भागों में विभक्त होने से मुख्य विषय तीन ही हैं सो न्यायसूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है कि"मन्त्र और ब्राह्मण का विषय यज्ञ, लोक के व्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय और संसारी मनुष्यों के वर्त्ताव वा चरित्रों का वर्णन करना वा इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय का वर्णन करना इतिहास पुराणों का विषय है" इस का तात्पर्य यह है कि कर्म उपासना, ज्ञान यही मुख्य कर वेद का विषय है। यज्ञ शब्द प्रत्येक कर्मादि के साथ सम्बन्ध रखता है जैसे विधियज्ञ, योगयज्ञ वा ज्ञानयज्ञ इत्यादि। योग और उपासना शब्द वास्तव में एकार्थ ही हैं। कर्म दो प्रकार का है एक धर्म के लिये किया धर्म सम्बन्धी द्वितीय शिल्प की सिद्धि के लिये धन सम्बन्धी कर्म है। यद्यपि इस से भिन्न अन्य कर्म भी कामादि के लिये होते हैं तो भी मुख्य ये ही दो हैं। सब कर्म मन वाणी और शरीर इन तीन से ही उत्पन्न होते हैं इस लिये उनके तीन भेद हैं। और सुख का हेतु शुभ कर्म तथा दुःख का हेतु अशुभ कर्म ये अन्य दो प्रकार हैं। वेदोक्त कर्म प्रायः सब का उपयोगी और स्मार्त्त कर्म वैदिक की अपेक्षा स्वार्थ साधक है। कर्म उपासना और ज्ञान में सब विषय अन्तर्गत हैं। कोई इससे भिन्न विषय नहीं जिसका अन्य शास्त्र में विलक्षण वर्णन हो और इन तीनों का मूल वेद से है इस लिये वेद सब विद्या और धर्मों का भण्डार है यह कहना सत्य है। ऐसा होने पर यदि कोई कहे कि फिर वेद से भिन्न धर्मशास्त्र का कौन विषय है? तो उत्तर यह देना चाहिये कि वेद से भिन्न धर्मशास्त्र का विषय हमको इष्ट भी नहीं किन्तु वेद से भिन्न उचित उपदेश का नाम धर्मशास्त्र है जैसे मूल रूप व्याख्येय से व्याख्यान सदैव भिन्न और मिला रहता है वैसे ही धर्मशास्त्र का विषय वेद से भिन्न अभिन्न दोनों है। कर्म उपासना ज्ञानों से भिन्न कोई विषय धर्म शास्त्रों में नहीं है इस कारण वेद से भिन्न

विषय न हुआ। और कर्मादि के अवान्तर भेद होने से भिन्न है इसी से यह व्यवहार करना बनता है कि यह श्रौत वा वैदिक तथा यह स्मार्त्त कर्म है। वेद में जो साक्षात् कहा गया वह वैदिक और वेद में जिस का मूल रूप से संकेत मात्र सूचना से उपदेश किया और स्मृतियों में जिसको कर्त्तव्य मान कर स्पष्ट विस्तार पूर्वक उपदेश किया वह स्मार्त्त कर्म कहा गया।

संसार में मनुष्य वेद की आज्ञा से विरुद्ध और उस के अनुकूल दोनों प्रकार से जगत् का प्रबन्ध चलाने के अर्थ कर्म कर सकता है उसमें वेद की आज्ञा के पुष्ट करने वाले व्यवहार को करे किन्तु किसी दशा में वेद से विरुद्ध आचरण न करे यह धर्मशास्त्र का अभिप्राय है। क्योंकि यद्यपि वेद से विरुद्ध और अनुकूल दोनों प्रकार का व्यवहार हो सकता है तो भी वेद के अनुकूल करने में कल्याण और विरुद्ध करने में अकल्याण वा दुःख प्राप्त होना सम्भव है इसी विषय पर व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि ने भी लिखा है कि:—

एवं क्रियमाणमभ्युदयकारिभवतीति॥

अर्थात् वेद की आज्ञा के अनुकूल करना कल्याण का हेतु होता है और इस प्रकार किया व्यवहार वेद के अनुकूल तथा इस प्रकार वेद से विपरीत होगा यही विषय मुख्य कर धर्मशास्त्रों में वर्णन किया गया है वेद के अनुकूल किया व्यवहार ही सुख का देने और दुःख का नाश करने वाला होता है।

अब एक शङ्का लोगों को और भी उपस्थित हो सकती है कि जब सब शास्त्र तीन ही प्रकारों में हैं जैसा कि पूर्व [श्रुति, स्मृति, इतिहासादि नाम से] लिखे गये तो छः दर्शन और उपवेद आदि ग्रन्थों की क्या दशा होगी ? अर्थात् क्या षड्दर्शनादि शास्त्र नहीं और हैं तो इनका विषय क्या है ? आज कल सामान्य कर शास्त्र शब्द के व्यवहार करने से मुख्य तो ये ही समझे जाते वेद तथा स्मृतियां वैसे शास्त्र नहीं समझे जाते। इस का उत्तर यह है कि वेदार्थ का विशेष प्रचार करने के लिये वा वैदिक सिद्धान्त में पड़ने वाले विघ्नों को हटाने के लिये ऋषि महर्षि महात्मा लोगों ने जो २ शास्त्र वेद का आश्रय ले कर परोपकारार्थ बनाये वे सब धर्मशास्त्र वा स्मृति शब्द कर के लोक में वा शास्त्रकारों की मर्यादा में प्रचरित हैं किन्तु मनुस्मृति आदि [कि जिनको आजकल लोग १८ वा २८ स्मृति कहते हैं] पद्य ग्रन्थों में स्मृति शब्द रूढि रूप से

बंधा नहीं है किन्तु कपिल की स्मृति सांख्य शास्त्र,योगस्मृति–पातञ्जल योगशास्त्र इत्यादि शब्दों से शङ्कर स्वामी ने भी शारीरक मीमांसा में व्यवहार किया है। और वैसे ही अन्य सूत्रकार वा भाष्यकार स्मृति शब्द से व्यवहार करते ही हैं यह बात विद्वानों को छिपी नहीं है। और मुख्य कर तो शास्त्र एक वेद है पर उसके व्याख्यान रूप भी ग्रन्थ स्मृति नामक शास्त्र हैं। इस लिये दो प्रकार के शास्त्र मुख्य कहे जाते हैं। एक श्रुति–वेद, द्वितीय स्मृति धर्मशास्त्र हैं किन्तु इतिहास पुराण वास्तविक शास्त्र नहीं हैं किसी समय विशेष में उत्पन्न हुए मुख्य शिष्ट सज्जन पुरुषों का चरित्र वर्णन करने से इतिहास पुराण किसी प्रकार साधारण बुद्धि वाले मनुष्यों को बोधित करते हैं इससे वे सर्वथा व्यर्थ नहीं हैं परन्तु उन इतिहासादि में जो धर्म सम्बन्धी उपदेश हैं वे यदि वेदमूलक हैं तो वे अंश धर्म शास्त्रों में अन्तर्गत हो जायंगे। और यदि वेद से बिपरीत हों तो वे अंश त्यागने योग्य हैं यह सब विद्वानों वा शास्त्रकारों के सम्मत है। धर्म का सेवन और अधर्म का त्याग करने वालों के लिये इतिहास पुराण एक दृष्टान्त रूप हैं अर्थात् उन का सप्रयोजन होना हम खण्डित नहीं करते। अब इस सब कथन से सिद्ध हो चुका कि कर्मोपासना ज्ञान ही सामान्य कर सब शास्त्रों का विषय है। उन कर्मादि के उपदेश का मूल वेद है और ऋषियों के बनाये स्मृति नामक ग्रन्थ व्याख्यान रूप हैं। और इन कर्मोपासना ज्ञानों को ही धर्म कहते हैं इस लिये धर्म शब्द पर कुछ लिखा जाता है–

अथ धर्मशब्दस्य कः पदार्थः ?। किं व्याकरणनियमानुसारेण धार्यते जनैर्यः स धर्मः? एवं सति वेदादिशास्त्रेषु निषिद्धं दुष्कर्मापि केन चिद्धार्यते चेत्तस्यापि धर्मत्वं भवितुं युक्तं किम् ?। एवं सत्यां विप्रतिपत्ताविदमुच्यते समाधानम्। धृञ्धारणइत्यस्माद्धातोरौणादिकः कर्मणि कारके मन् प्रत्ययः। मनुष्याः सामान्या विशिष्टा वा प्राण्यप्राणिनः सर्वे पदार्था वा यं धरन्ति यस्याधाररूपा भवन्ति यद्वा मनुष्यैः प्राण्यप्राणिभिर्वा यो ध्रियते स धर्मः। सर्वशास्त्रेषु जातिगुणक्रियाभेदेन त्रिविधा एव शब्दाः। नैयायिका एतानेव द्रव्यगुणकर्मशब्दैर्व्याहरन्ति। तत्र धर्मशब्दो यथाकथञ्चित्त्रिष्वपि

भेदेषु व्याप्रियमाणो लक्ष्यते। प्राधान्येन च धर्मशब्दो गुणवाचकः कर्मवाचकश्च लोके व्याह्रियते। अतएवार्द्धर्चादिपाठादस्योभयलिङ्गता पण्डितैः स्वीक्रियते। यत्र कर्मवाचको धर्मशब्दस्तत्रैवास्य प्रायो नपुंसकता दृश्यते। यथा च यजुर्वेदस्यैकत्रिंशदध्याये। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। कर्मपर्यायोत्र धर्मशब्दः। नपुंसके क्वचिदेव प्रयुक्तो धर्मशब्दो दृश्यते। किन्तु प्रायशः पुँल्लिङ्गएव धर्मशब्दो लोके वेदे च जनैः प्रयुज्यते लिख्यते च स च गुणवाचकः स्वभाववाचको वा धर्मशब्दोऽस्ति। सर्वविधोऽपि धर्मशब्दः सुखहेतुकस्यैव गुणस्य कर्मणो द्रव्यस्य वा वाचकोऽभीप्स्यते नतु दुःखहेतुकस्येति दुःखहेतौ धर्मशब्दे नञव्ययं संयोज्याधर्मइति व्यवहरन्ति तत्र च सुखाद्विरुद्धं दुःखहेतुकं गुणः स्वभावो द्रव्यं कर्म वाऽधर्मशब्दवाच्यं विज्ञेयम्। यत्र च पर्युदासार्थवाचकं नञव्ययं तत्र धर्मभिन्नस्य धर्मसदृशस्य च वाचकोऽधर्मशब्दो विज्ञातव्यः। तमेव धर्माभासमपि वदन्ति। य उपरिष्टाद्धर्मइव भासते स धर्माभासइत्यर्थः। सर्वे च प्राणिनः सुखमेवेच्छन्ति न कश्चित्कदाचिदपि दुःखमभीप्सति। अतएव कारणाच्छास्त्राज्ञाविरुद्धं दुःखहेतुकं दुष्कर्म न केनापि धार्यते स्वभावतएव विरोधात्। धर्मो ध्रियते धार्यते वा स्वीक्रियते सात्मीक्रियते वा। यथा प्रकृत्यनुकूलं सुखप्रदमेव भुक्तं वस्तु पक्वाशयमवाप्यावतिष्ठते तत्रस्थधातुभिर्ध्रियते च। मित्रं मित्रमवाप्येतरेतरं प्रसन्नताहेतुकमिव जायते। इदमेव धारणस्य लक्षणम्। यथा च मक्षिकादिप्रतिकूलं भुक्तं सन्न जीर्यत्यपितु वमनहेतुकं भवति नैव तत्पक्वाशयेन ध्रियते। धारणं चेन्न वमनादिकं वैमनस्यं ग्लानिर्वाजायेत।

कथंचिद्गमनहेतुकं न स्याज्जीर्येदपि तर्हि दुःखहेतुकान् विकारान् रोगादीनुत्पादयति कदाचिदज्ञानतो भुक्तं न च विशेषविकारहेतुकं चेत्तथापि ग्लानिरवश्यमुत्पद्यते तस्मान्नैव तद्ध्रियते । एवमत्रापि नैव निषिद्धं दुष्कर्म केनापि मनुष्येण सात्मीक्रियते ध्रियते वा किन्तु सुखहेतुकमेव प्रसन्नतया ध्रियते । निषिद्धं तु कामक्रोधादि-वशीभूतेन सेव्यते । न तु विरुद्धं दुष्कर्म सुकर्ममनीषया कश्चिदनु-तिष्ठति । नहि चौरो मनसि निर्भीतः सन् स्तेयं करोति । यदि चौ-रः कथमपि परोपकारे रममाणधार्मिकवत्स्तेये कर्मणि लज्जाशङ्-काभयान्युत्सृज्य प्रवर्त्तेत तर्हि विरुद्धस्यापि धारणार्थत्वाद्धर्मत्वं प्रसज्येत तत्तु नैव सम्भवति तस्माद्धर्मएव धार्यते ध्रियते वा यश्च ध्रियते सएव धर्मइति व्याकरणानुकूलएवार्थः साधुः ॥

एतेन हितमनुकूलमेव ध्रियते न च प्रतिकूलम् । अतो हित-करे गुणकर्मणी एव धर्मइति राद्धान्तः । स्वभावः स्वस्य सत्ता तु सर्वैश्चराचरवस्तुभिर्ध्रियतइति । यदोच्यतेऽयं सज्जनो धर्मात्मास्ति तत्र धर्म आत्मनि बुद्धावन्तःकरणे यस्येत्यर्थे क्रियमाणे दयार्जवा-हिंसासत्यास्तेयशौचेन्द्रियनिग्रहादिरूपेण मनसि कर्त्तव्यतयाऽव-स्थितोऽस्येति गम्यते यद्वा धर्माः शास्त्रविहितशुभकर्मानुष्ठानजन्याः संचिताः शुभसंस्काराः [संचितं पुण्यम्] मनस्यवस्थिता यस्य स धर्मात्माइति गम्यते। श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मान-व०इत्यादिस्थलेषु श्रौतं स्मार्त्तं च कर्मैव धर्मशब्देनानूद्यते । कुत्र-चित्स्थले सत्यस्यैव नाम धर्मइति । अथातो धर्मजिज्ञासेति पूर्व-मीमांसासूत्रम् । एतेन वेदस्थप्रेरणारूपोधर्मः । वेदे यानि विधिवा-क्यानि तानि साक्षाद्धर्मस्य बोधकानि । अर्थवादानुवादवाक्यानि च

विधिनैकवाक्यत्वात्सार्थकानि धर्मस्य सहकारीणि कारणानि । अथातो धर्मं व्याख्यास्यामइति वैशेषिकसूत्रम् । अत्रापि विधिलक्षणस्य वैदिकस्यैव धर्मस्य ग्रहणम् । एवमुक्तप्रकारेण पूर्वमीमांसादिषु धर्मस्य शासनं दृष्टचरमतस्तेषामन्वर्थं धर्मशास्त्रत्वम् ।

विहितक्रियया साध्यो धर्मइत्यादिस्थले आत्मापि धर्मशब्दवाच्यो भवितुमर्हति । सोऽपि विहितानुकूलं यतमानेनैव प्राप्यते । क्वचिद्धर्मस्तमनुगच्छति, धर्मं शनैः संचिनुयात् । इत्यादिस्थलेषु शुभकर्मानुष्ठानेनोपार्जितं शुभं संचितं पुण्यरूपं वासनानुविद्धं कर्मैव धर्मसंज्ञितम् । क्वचिज्ज्ञेयस्य ज्ञानं ध्येयस्य ध्यानमपि धर्मएवास्ति। सर्वोऽयं धर्मो द्विविध ऐहिकः पारमार्थिकश्च। जगति सुखभोगाय सेव्यमानः शुभाचारो वेदोक्तं कर्म च लौकिको धर्मः । फलभोगाकाङ्क्षाराहित्येनौदासीन्यगतमानसेनोपास्यस्य सर्वशक्तिमत ईश्वरस्याज्ञापालनमात्रप्रयोजनेन सेव्यमानं ज्ञानध्यानादिकं पारमार्थिको धर्मः । अयं द्विविधोऽपि धर्मः श्रौतस्मार्त्तभेदेन द्वैविध्यमापद्यते । यद्यपि सर्वशास्त्राणां मुख्यो धर्मएव विषयः। अधर्मस्य निराकरणोपायवर्णनमपि धर्मएव । यत्किमपि कर्त्तव्यत्वेनोपदिश्यते तस्य कर्त्तव्यता निषिद्धस्य च परित्यागः सर्वो धर्मएव तथापि धर्मशास्त्रस्यास्य मानवस्य मुख्यतया धर्मएव विषयः । अतः सामान्यतया धर्मएवोक्तलक्षणो विषयइत्युक्तं भवति ॥

अब सामान्य धर्मशब्द पर कुछ विचार करना आवश्यक इस लिये समझा गया कि हम को धर्मशास्त्र की मीमांसा करना है तो प्रथम जान लेना चाहिये कि धर्म किस वस्तु का नाम है ? वस्तु शब्द से यहां वाच्य मात्र का विचार है किन्तु द्रव्य का पर्याय वाचक वस्तु शब्द नहीं लेना है । प्रयोजन यह कि धर्मशब्द का शाब्दिक वा लाक्षणिक अर्थ क्या है ? अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार मनुष्य

जिस को धारण करें वह धर्म है ऐसा होने पर वेदादिशास्त्रों में जिस का निषेध किया गया ऐसे चोरी आदि दुष्कर्म को भी कोई धारण करता वा कर सकता है तो क्या उस को भी धर्म कहना ठीक हो सकता है ? ऐसा विरुद्ध निश्चय वा सन्देह हो सकने से इस का यह समाधान कहा जाता हैः—धृञ् धारणे इस धातु से कर्मकारक वा भाव में उणादि मन् प्रत्यय हुआ है । सामान्य वा विशेष मनुष्य अथवा चराचर सब वस्तुमात्र जिस को धारण करते जिस के आधार होते अथवा मनुष्य वा प्राणी अप्राणियों से जो धारण किया जाता अर्थात् उन को धारण करने पड़ता है वह धर्म कहाता है यह धर्म का शाब्दिक अर्थ है। कदाचित् किसी प्रकार अन्य कारकों में भी मन् प्रत्यय हो सके परन्तु प्रधानता से भाव और कर्म का ही अर्थ मिल सकताहै । भाव अर्थ में प्रत्यय करने से धृति—धैर्य क्षमा आदि धारणरूप हैं इस कारण इन का भी नाम धर्म हो सकेगा ॥

और कर्म का अर्थ आगे स्वयमेव लिखा गया है। सब शास्त्रों में जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द ये तीन ही प्रकार के शब्द माने गये हैं। नैयायिक लोग इन्हीं को द्रव्य गुण कर्म शब्दों से व्यवहार में लाते हैं । इस में धर्मशब्द द्रव्य गुण और कर्म तीनों का नाम जिस किसी प्रकार व्यवहार में आया दीख पड़ता है। परन्तु प्रधानता से धर्मशब्द गुण और कर्म का वाचक है अधिक कर इसी दो प्रकार का व्यवहार आता है । इसी कारण व्याकरण अष्टाध्यायी के अर्द्धर्चादिगण में धर्मशब्द का पाठ करने से विद्वान् लोग पुंस् नपुंसक दोनों लिङ्ग होना मानते हैं । और जहां कर्म का वाचक धर्मशब्द है वहीं प्रायः इस का नपुंसकपन प्रतीत होता है । जैसे यजुर्वेद के ३१ अध्याय में (यज्ञेनयज्ञम०) यहां धर्मशब्द कर्म का पर्याय वाचक है । नपुंसकलिङ्ग में धर्मशब्द का प्रयोग बहुत न्यून आता है किन्तु प्रायः पुँल्लिङ्ग में ही लोक वेद में प्रयोग किया वा लिखा जाता है वह गुण वाचक वा स्वभाव वाचक धर्मशब्द है। सब प्रकार का धर्मशब्द सुख हेतु गुण कर्म वा द्रव्यवाचक अभीष्ट है किन्तु दुःख हेतु गुणादि का वाचक नहीं। जहां दुःख का हेतु धर्मशब्द आता है वहां उस में नञ् अव्यय संयुक्त करके अधर्म कहते हैं वहां सुख से विरुद्ध दुःख का हेतु गुण, स्वभाव, द्रव्य वा कर्म अधर्मशब्द का वाच्यार्थ यथासम्भव जानना चाहिये। जहां पर्युदासार्थ वाचक नञ् अव्यय होताहै वहां धर्म से भिन्न धर्म के तुल्य वस्तु का वाचक अधर्म शब्द जानना चाहिये उसी को विचारशील लोग धर्माभास भी कहते हैं कि जो ऊपर से धर्म के तुल्य प्रतीत

हो परन्तु वास्तव में धर्म न हो। संसार में मनुष्य से लेकर चीटी पर्यन्त सब प्राणी सुख की ही इच्छा रखते हैं कोई कदापि दुःख को नहीं चाहता। इसी कारण शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध दुष्ट कर्म का धारण कोई नहीं करता क्योंकि स्वभाव से ही इसका विरोध है। इस लिये धर्म वही है जिसका धारण, स्वीकार वा स्वभाव से मिलाप हो जावे। जैसे प्रकृति के अनुकूल सुख देने वाले वस्तु का भोजन किया जाय तो वह उदर में जा कर ठहरता वा धारण किया जाता और वहां के धातु उस आहार को अपने तुल्य बनाने का यत्न करते हैं अर्थात् ठहराते हैं। जैसे मित्र को मित्र प्राप्त हो कर प्रसन्नता का कारण होता है वैसे ही अपने प्रिय सुख प्रद को पाकर धर्मात्मा सुखी वा आनन्दित होता है। यही धारण का लक्षण है। और जैसे भोजनादि के साथ वा अकस्मात् प्रमादादि से पेट में मक्खी आदि विरुद्ध वस्तु चला जावे तो नहीं धारण होता—नहीं ठहरता वा पचता किन्तु वमन का कारण हो जाता है क्योंकि पक्वाशय उस का धारण नहीं करता यदि उस का धारण हो और वमनादिक न हो वा चित्त न बिगड़े ग्लानि न हो अर्थात् कदाचिद् विरुद्ध खाया मक्खी आदि वमन का हेतु न हो और किसी प्रकार पच भी जावे तो दुःख के हेतु रोगादि विकारों को अवश्य उत्पन्न करता है। कदाचित् अज्ञान से खाया मक्खी आदि किसी विशेष रोग का कारण न हो तो ग्लानि अवश्य उत्पन्न होती है। प्रयोजन यह कि अनुकूल हितकारी भोजन के तुल्य मक्खी आदि पेट में कदापि न ठहरेगा। तथा जैसे मनुष्य अपने अनुकूल भार को अपनी इच्छा से उठाता है वह उस को हड़ता नहीं भले हीं उस में क्लेश हो और जिस भार का उठाना भार नहीं जान पड़ता वही धारण करना है और जहां भार वा दुःख जान पड़े और किसी की लज्जा, शङ्का, भय वा लोभादि के कारण उठाना पड़े वह धारण न होने से धर्म नहीं किन्तु अधर्म है। और अन्तरात्मा सदा सत्य को धारण करता किन्तु बनावटी मिथ्या को वाणी द्वारा कहते सङ्कुचित होता वा लज्जा शङ्का करता है इस कारण जहां ऐसा होता है वह धर्म नहीं और सत्य ही धर्म है। इसी प्रकार निषिद्ध चोरी व्यभिचारादि दुष्ट कर्म को कोई पुरुष धारण नहीं करता किन्तु सुख के हेतु अनुकूल को प्रसन्नता से धारण करते हैं। निषिद्ध कर्म का सेवन काम क्रोधादि के वशीभूत हो कर किया जाता है किन्तु विरुद्ध दुष्टकर्म को सुकर्म बुद्धि से कोई नहीं सेवता अर्थात् चोरी आदि पाप का करने वाला भी उस को पुण्य नहीं मान सकता। चोर निर्भय

होकर चोरी आदि कदापि नहीं करता । यदि चोर किसी प्रकार परोपकार में लगे धर्मात्मा के तुल्य चोरी करने में लज्जा शङ्का भयों को छोड़ कर प्रवृत्त हो तो विरुद्ध कर्म का भी धारण हो सकने से धर्म कहना प्राप्त हो सो तो कदापि सम्भव नहीं तिस से धर्म ही धारण किया वा कराया जाता है और जो धारण किया जाता वही धर्म है इस से व्याकरणानुकूल अर्थ करना ही ठीक है । इस से यह सिद्ध हुआ कि अनुकूल हितकारी का ही धारण होता है किन्तु प्रतिकूल का नहीं इस कारण हितकारी गुण कर्मों को ही धर्म कहना वा मानना सिद्धान्त है क्योंकि अपने २ हितकारी को ही सब लोग स्वीकार करते हैं किन्तु अपने विरोधी दुःखदायी को कोई नहीं चाहता । और स्वभाव का नाम भी धर्म है सो अपनी २ सत्ता को सब चराचर वस्तु धारण करते ही हैं । इस सत्ता को ही भाव भी बोलते हैं कि जिस भाव अर्थ के बोधक व्याकरण में त्व तल् प्रत्यय नियत किये गये हैं । जैसे ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व, वा मनुष्यत्व, पशुत्व, पक्षित्व, एकता इत्यादि शब्दों में ब्राह्मणादि के मुख्य धर्म में त्व आदि प्रत्यय हुआ है इस अंश में महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि ने अ० ५ पा० १ सू० ११९ पर लिखा है कि—

यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तस्मिन् गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम् ॥

अर्थात् ब्राह्मणपद वाच्य व्यक्ति वा जाति में जिस प्रधान गुण की विद्यमानता होने से ब्राह्मणादि पद का प्रयोग वा व्यवहार किया जाता है उस गुण वा शक्ति का नाम धर्म समझना चाहिये । जिन२ शास्त्रों में अर्थात् छः दर्शनों में धर्म धर्मिके प्रसङ्ग का वर्णन आता है उन २ में शक्ति शक्तिमान् वा गुण गुणी का व्याख्यान समझा जाता है और योग शास्त्र के विभूति पाद में भी लिखा है कि—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

भाष्यम्—योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ॥ इत्यादि ।

इस योगसूत्र का अभिप्राय यह है कि भूत भविष्यत् और वर्त्तमान धर्म वा गुणों के साथ रहने वाला धर्मी वा शक्तिमान् वा गुणी कहाता है । धर्म तीन प्रकार के काल भेद से माने जाते हैं । जो अपनी तरुणावस्था को व्यतीत कर

शान्त तिरोभूत अप्रकट वा नष्ट हो गया वह भूतधर्म शान्त कहाता है। तथा विरोधी के तिरोहित (दब) जाने वा नष्ट हो जाने से और अपने उत्तेजक हेतुओं से उत्तेजित हुआ धर्म वा गुण वर्त्तमान उदित धर्म कहाता है। तथा भविष्यकाल में प्रकट होने वाला गुण अव्यपदेश्य है क्योंकि उस का अनुभव किये विना वर्णन नहीं किया जा सकता कि इस वर्त्तमान अवस्था के लौटने पर ऐसा होगा इसी लिये उस का नाम अव्यपदेश्य माना गया है। प्रत्येक वस्तु में इसी तीन प्रकार की दशा के साथ गुण वा धर्म ठहरता है। अपनी योग्यता के साथ अन्य गुण वा धर्मों से पृथक् हुई धर्मी पदार्थ की शक्ति का ही नाम धर्म है यह व्यास भाष्य का तात्पर्य है। सब वस्तु में सब प्रकार की योग्यता नहीं रहती इस लिये योग्यता ही सब धर्म वा शक्तियों की अवच्छेदक—भेदक मानी जाती है। और जिसका जिसके साथ मेल होना वा करना उपयोगी है उस के साथ उसकी योग्यता समझी जाती है यही योग्यता शब्द का अर्थ है। ऊपर लिखे महाभाष्य और योगसूत्र का एक ही आशय धर्मशब्द पर है जैसा कि पूर्व से लिखा गया॥

पूर्व जो तीनकाल के भेद से गुण धर्म वा शक्ति के तीन भेद कहे गये हैं उन को लौकिक वा शास्त्रसम्बन्धी व्यवहार में फैला कर देखा जाय तो ठीक२ ऐसा ही प्रतीत होता है। जैसे जो पहिले से मित्र रहा वह शत्रु और जिस के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रहा वह पुरुष वा स्त्री मित्र बन जाती है। यह धर्मों का परिणाम सदा होता रहता है। अर्थात् सब पदार्थ सब देश काल और अवस्थाओं में सब के सर्वथा अनुकूल वा सर्वथा प्रतिकूल नहीं रहते किन्तु जो किसी देश, काल, वा वस्तु, अवस्था के सम्बन्ध से अनुकूल हो गया वही देशादि के लौट फेर से प्रतिकूल हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिकूल हुआ वस्तु कभी अनुकूल भी हो जाता है यह सब धर्मों का परिणाम है। अभिप्राय यह कि जिस का परिणाम लौट पौट होता रहता है उस गुण का नाम धर्म है। इस पर एक शङ्का यह रह सकती है कि यदि लौटता रहता है तो उस का नाम स्वभाव क्यों रक्खा गया? अर्थात् स्वभाव उसी को मानते हैं जिस में भेद न पड़े। और सनातन धर्म क्या माना जावेगा कि जब धर्मों का सदा परिणाम होता रहता है तो सनातन धर्म कोई क्यों ठहर सकता है?। यद्यपि ये दोनों प्रश्न ऐसे हैं जिन पर कितना ही लिखा जाय पार मिलना दुस्तर है तथापि अतिसूक्ष्मता से इन का समाधान लिखा जाता है—

स्वभावशब्द का अर्थ यह है कि अपनाभाव अर्थात् अपना कारण । अपने कारण से जो गुण कार्य में यथार्थरूप से चला आता है उस को स्वाभाविक कहते हैं। जैसे दूध का श्वेतगुण दही मठा आदि सब में यथावत् बना रहता है वा जैसे कपास की श्वेतता रूई सूत वस्त्र आदि सब उत्तर२ कार्य में चली आती है। तो यहां श्वेतता गुण स्वाभाविक माना जाता है परन्तु दूध दही मठा आदि में कोई काला वा अन्य ऐसा रङ्ग डाल सकते हैं जिस से उस की श्वेतता मिट जावे वा जैसे कपड़े को नील आदि से रङ्ग देना इस से स्वाभाविक को भी कोई लोग अनित्य मानते हैं परन्तु यह पक्ष इस लिये ठीक नहीं कि वह स्वाभाविक रङ्ग नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोभूत (दब) हो जाता है । इस का दृष्टान्त धोबी है कि यदि शिल्पक्रिया प्रवीण धोबी हो तो बनावटी ऊपर से चढ़ाये पक्के रङ्ग को भी छुड़ा कर फिर उसी श्वेत स्वाभाविक गुण को निकाल देता है इस से अनुमान होता है कि स्वाभाविक गुण नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित (दब) होजाता है और धोबी के दृष्टान्त को धर्मसम्बन्ध में भी ठीक लगा सकते हैं कि यदि अच्छा धर्मात्मा उपदेशक गुरु मिल जावे जो सब प्रकार से शुद्ध और प्रवीण हो वह काम क्रोधादि से लगे दुर्गुणों को छुड़ा कर चेतन आत्मा के स्वाभाविक शुद्धभावों को प्रकाशित कर देता है । और कदाचित् शिल्पकुशल धोबी न मिले कि जो वस्त्र पर हुए नीलादि रङ्ग को छुड़ा सके तो भी स्वाभाविक को अनित्य न मानना चाहिये । क्योंकि सूर्य का तेज वा प्रकाश स्वाभाविक है उस के आवरक अन्तरिक्षस्थ मेघ वा धूलि को हम नहीं हटा सकते तो भी वह अनित्य नहीं इसी प्रकार यहां भी जानो कि मनुष्यादि में कारण के सम्बन्ध से जो गुण आता है वही स्वाभाविक है और उस के कभी तिरोभूत हो जाने वा अन्तर्धान हो जाने वा किसी अज्ञानी के अनित्य मान लेने पर भी वह अनित्य नहीं होता। पर नित्य अनित्य का विचार लोक में सापेक्ष चलता है किसी की अपेक्षा कोई नित्य माना जाता है जिस के स्वरूप में कभी भेद न पड़े किन्तु अनादि अनन्तकाल एक रस रहे ऐसा तो एक परमेश्वर है । और नित्य सन्ध्या वा अग्नि होत्र करता है ऐसा कहना सापेक्ष अर्थात् जो एक दो दिन कर के छोड़ दे उस की अपेक्षा यहां नित्य शब्द का प्रयोग है किन्तु यह तो सभी जानते हैं कि अति बाल्यावस्था में कोई भी सन्ध्याग्निहोत्रादि नहीं करता उत्पत्ति से पहिले भी नहीं करता था मरने पश्चात् भी न करेगा । बीच २ भी कभी २ छोड़ने पड़ता है तो वैसा नित्य अर्थ नहीं तो भी

नित्य माना वा कहा जाता है इसी प्रकार सापेक्ष नित्य वस्तुओं में एक साथ अनित्यता नित्यता दोनों रहती है। परन्तु ठीक नित्य मानने में प्रवाह से किन्हीं को नित्य ठहरा सकते हैं। इस लिये स्वभाव का लौट जाना तिरोभूत हो जाना मात्र है। और जिस का वस्तुतः लौट जाना होता है वह स्वभाव नहीं है। किन्तु संयोगी गुण है।

अब रहा सनातन धर्म सो उस में भी यही विचार है उस के तिरोहित हो जाने वा अन्य विरोधी के प्रबल हो जाने से उसका सनातनपन नहीं बिगड़ता। वह सदा कर्त्तव्य उपयोगी अनुकूल फल दाता है इसलिये सनातन कहाता है। यद्यपि अपवाद विषय में उत्सर्ग का प्रवेश नहीं होता तो भी वह बहुव्यापी होने से उत्सर्ग वा सामान्य ही कहाता है। जैसे भारतवर्ष का एक राजा हो वह दश पांच ग्राम का सब अधिकार किसी को दे देवे तो भारतवर्ष का राजा कहाना उसका बिगड़ नहीं सकता। इसी प्रकार आपत्काल में सनातन धर्म के किसी अंश का पूरा उपयोग न रहे तो उसका सनातन होना खण्डित नहीं हो सकता। इस अंश का विशेष विचार उत्तम मध्यम धर्मों में किया जायगा।

यह सब लेख स्वभाव वा गुण को धर्म मानने पर लिखा गया यद्यपि संस्कृत में ऐसा विचार नहीं था तो भी भाषा में समझने वाले अधिक जान कर बढ़ाया गया। अब प्रकृत यह है कि जब कहा जावे कि यह सज्जन मनुष्य धर्मात्मा है वहां जिसके चेतनता युक्त अन्तःकरण में दया' कोमलता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियों का वश में करनादि रूप से धर्म कर्त्तव्य वृत्ति के साथ अवस्थित है ऐसा अर्थ करना चाहिये। अथवा शास्त्रों में कहे शुभ कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले पुण्यरूप संचित शुभ संस्कार जिस के मन में अवस्थित हैं वह धर्मात्मा कहाता है। श्रुति स्मृति में कहा धर्म ऐसे प्रसङ्ग में श्रौत स्मार्त्त कर्म ही धर्म कहाता है। कहीं केवल सत्य का ही नाम धर्म है (अथातो०) इस मीमांसा सूत्र के अनुसार वेदस्थ परमेश्वर की आज्ञा ही धर्म है अर्थात् वेद में जो विधिवाक्य हैं वे साक्षात् धर्म के बोधक हैं। अर्थवाद और अनुवाद वाक्यों की विधिवाक्य के साथ एकता होने से सार्थक होते हैं (अथातो०) इस वैशेषिक सूत्र में विधि—आज्ञा रूप वेदोक्त धर्म का ही ग्रहण है इस उक्त प्रकार से पूर्व मीमांसादि षट्शास्त्रों वा षड्दर्शनों में धर्म की शिक्षा वा उपदेश प्रत्यक्ष है इस कारण उन को धर्मशास्त्र मानना वा कहना सार्थक

हुआ। कहीं लिखा है कि विधान किये कर्म के सेवन से सिद्ध होने वाला धर्म है इत्यादि स्थल में आत्मा भी धर्मशब्द का अर्थ आ सकता है। क्योंकि आत्मा भी विहितानुकूल कर्म करने से ही प्राप्त हो सकता है। मरने पर धर्म साथ जाता, धर्म का धीरे२ सञ्चय करे इत्यादि स्थल में शुभ कर्मों के सेवन से उपार्जन किया वासनारूप में बंधा पुण्यरूप सञ्चित शुभ कर्म ही धर्म कहाता है। कहीं ज्ञेय वस्तु का ज्ञान और ध्येय वस्तु का ध्यान करना भी धर्म ही कहाता है। यह उक्त सब धर्म दो प्रकार का है एक संसारी और द्वितीय परमार्थसम्बन्धी। जगत् में सुखभोग के अर्थ जिस का सेवन किया जाता है ऐसा शुभ आचरणरूप वेदोक्त कर्म लौकिक धर्म है। और फलभोग की अपेक्षा छोड़ के उदासीन वृत्ति से सर्वशक्तिमान् सब के उपास्य ईश्वर की आज्ञा पालनमात्र अपना कर्त्तव्य वा प्रयोजन मान के सेवन किया ज्ञान ध्यानादि परमार्थ सम्बन्धी धर्म कहाता है। यह दोनों प्रकार का धर्म श्रौत स्मार्त्त भेद से और दो प्रकार का होता है। अर्थात् लौकिक श्रौत स्मार्त्त और वैदिक श्रौत स्मार्त्त। यद्यपि सब शास्त्रों का धर्म ही मुख्य कर विषय है क्योंकि जहां कहीं अधर्म को हठाने के उपाय कहे हैं वह भी धर्म के प्रचार में उपयोगी होने से धर्म है तथा जो कुछ कर्त्तव्य मान कर उपदेश किया गया वह सब धर्म है क्योंकि जो सदा कर्त्तव्य वा ग्राह्य हो अर्थात् सुख का कारण हो वह धर्म और जो त्यागने योग्य दुःख का कारण निषिद्ध है उस का त्याग भी धर्म है। इस प्रकार वेद, उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, छः वेदाङ्ग, । छः शास्त्र और स्मृति आदि सब सत्शास्त्रों में कर्त्तव्य का विधान और निषिद्ध का त्याग ही मुख्य कर दिखाया गया है। तो भी इस मानवधर्मशास्त्र का मुख्य कर यही विषय है इस से सामान्य कर उक्त लक्षण वाला धर्म ही इस मानवधर्मशास्त्र में कहा गया है यह सिद्ध हुआ। इस धर्म विषय पर इतना लेख बहुत सूक्ष्म है सो कुछ तो आगे शेष होगा और कुछ उपयोगी समझ कर लिखा गया वैसे इस महान् विषय का समाप्त होना दुस्तर था ॥

अथ विधिनिषेधसिद्धानुवादार्थवादानां विचारः

वेदेषु तदनुयायिशास्त्रेषु च यस्येतिकर्त्तव्यतोपदिष्टा स विधिलक्षणो धर्मः। अर्थाद्यस्य कर्त्तव्यमुपदिष्टं तत्कर्म तेन संचिताः शुभसंस्कारा वा धर्मशब्दवाच्याइति पूर्वतः प्रतिपादितम्। तेन

सिद्धमितिकर्त्तव्यतयोपदिष्टएव धर्मः। शुभस्य विधानमुखेन निषिद्धस्य च प्रतिषेधमुखेन विधिरेव धर्मः। यथा नारुन्तुदः स्यादार्त्तोपीत्यत्रारुन्तुदत्वस्यासद्भावोऽपि धर्मएव। यद्वा नारुन्तुदः स्यादार्त्तोपीति वाक्यस्याधर्मनिषेधकत्वाद्धर्मशास्त्रत्वम्। एवं सति विधिवाक्यानामेव धर्मबोधकत्वं प्राप्तं नान्येषामिति।

वेदाद्यखिलशिष्टसम्मतगद्यपद्यवाक्यसमुदायरूपशास्त्रेषु मुख्यतया त्रिविधान्येव वाक्यान्युपलभ्यन्ते तथा च न्यायदर्शनवात्स्यायनभाष्ययोरपि—अ० २ आ० २ सू० ६२—६४।

विधिर्विधायकः ॥ ६२ ॥

भा०—यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा। यथाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामइत्यादि ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ६३

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात् प्रवर्त्तते। अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति। अन्यकर्त्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः ॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥

विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च, पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः। यथा पुनरुक्तं द्विविधमेवमनुवादोऽपि। किमर्थं पुनर्विहितमनूद्यते ? अधिकारार्थम्। विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते निन्दा वा विधिशेषोवाऽभिधीयते। विहितानन्तरोऽपि चानुवादो

भवति । एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम् । लोकेऽपि च विधिरर्थवादोऽनुवादइति च त्रिविधं वाक्यम् । ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम् । अर्थवादवाक्यमायुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम् । अनुवादः पचतुपचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति वा, अङ्ग ! पच्यतामित्यध्येषणार्थम् । पच्यतामेवेति वाऽवधारणार्थम् ॥

अत्र सूत्रत्रये वात्स्यायनीयं न्यायभाष्यम् । तच्च नैव सर्वमत्रोद्धृतमपि तु प्रसङ्गानुकूलं यावत्प्रयोजनमुद्धृतमिति । प्रायो वैदिकपुस्तकेषु ब्राह्मणेषु च यथालिखितानि त्रिविधानि वाक्यानि घटन्ते। परकृतिपुराकल्पौ चार्थवादौ ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटेते नतु सनातनेऽपौरुषेये वेदइति अनुवादशब्दार्थो यथाभाष्यकारेणोक्तस्तथैव वेदसम्बन्धिग्रन्थेष्वायाति। सिद्धानुवादश्चायमपरोऽनुवादः । एनमेव केचिद्भूतानुवादइति वदन्ति । अयमपि लोके प्रसिद्धः । शास्त्रेषु चाप्ययमुपलभ्यते । यदा च त्रिविधानि चतुर्विधानि वा वाक्यानि सन्ति तदा विधिवाक्यानामेव सार्थकत्वेऽन्येषामानर्थक्यं प्रज्यते तथाचोक्तं पूर्वमीमांसायाम्—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यत्वमुच्यते ॥

इत्यादिप्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादस्थैरेव सूत्रैः पूर्वपक्षं विधायोत्तरपक्षे समादधाति तत्रैव—

विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेनविधीनां स्युः

अस्यायमाशयः—विधिवाक्येन सार्द्धमर्थवादानुवादवाक्यानामेकवाक्यात्वात्सार्थक्यम् । नह्यर्थवादमन्तरेण विहितमनुष्ठातुं प्रति-

पिद्धं त्यक्तुं वोत्सहते कश्चिदर्थी। फलभोगाद्रिक्तेनाप्यर्थवादोऽवश्यं ज्ञातव्यस्तत्राप्यर्थवादस्य सार्थक्यमेव। विहितमेव सेव्यं नाविहितं निषिद्धं च त्याज्यमित्यर्थवादेनैव प्रत्याय्यते। अतोऽर्थवादानामपि सार्थकत्वमेव।

अथास्मिन् मानवधर्मशास्त्रे—वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्यचेहचेति सामान्येन विधायार्थवादः प्रशंसाफलदर्शनम्—गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते। कल्याणमीप्सुभिः पित्रादिभिर्देव्यः स्त्रियः पूज्या भूषयितव्याश्चेति विधानं विधिराज्ञा वा। अत्रैव यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। इत्यादयोऽर्थवादाः। नचैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्। नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः। इत्यादिर्निषेधमुखो विधिः। धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः। इत्यादिः स्पष्टो विधिरेव। एवमर्थवादा विधिमेव रक्षयन्ति पोषयन्ति च। सिद्धानुवादवचांसि च धर्मशास्त्रे वेदे चोपलभ्यन्ते। वेदे तावत्—

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥

इत्यादयः सिद्धानुवादा वेदेषु दृश्यन्ते। धर्मशास्त्रेषु सृष्टेर्वर्णनं सिद्धानुवादो भूतानुवादोवास्ति। स्वाभाविकद्रव्यगुणकर्मणां विभागेन प्रदर्शनमपि सिद्धानुवादस्य विषयः। यदा च ज्ञातव्यत्वेन सिद्धमेवोच्यते तदाविधिरेव भविष्यति।

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं तु राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥

इत्यादीनि बहूनि वचांसि सिद्धानुवादगतानि । स्वाभाविकसिद्धानुवादवर्णनं विधिनिषेधयोस्तत्रौदासीन्यप्रदर्शनाय नहि तत्रक्रियमाणो यत्नः सफलो भवितुमर्हति । स्वाभाविकस्य यावद्द्रव्यभावित्वात् । कुत्र २ चिच्छुभाशुभज्ञापनेन विधिनिषेधाभिमुखकरणाय मनुष्याणां सिद्धानुवादा उच्यन्ते । यथा हिमस्य भेषजं यो जानाति सएव हिमग्रस्तः सन् निवृत्तिं कर्त्तुमर्हति । नहि सर्वं सिद्धं सर्वः कश्चिज्जानाति । सिद्धमिदानीं सर्ववाक्यसमुदायसच्छास्त्रेषु च तुर्विधान्येव वाक्यानीति ॥

अब विधि, निषेध, अनुवाद वा सिद्धानुवाद और अर्थवाद जिन का उद्देश्य चतुर्थ संख्या में लिख चुके हैं उन का विचार किया जाता है । इन में विधि नाम आज्ञा (हुक्म) का है कि ऐसा करो और ऐसा मत करो यह निषेध है सो भी विधि के साथ ही लग जाता है। अनुवाद–कही वात वा विषय को फिर कहना । सिद्धानुवाद–एक अनुवाद का ही भेद है जो वस्तु वा कार्य लोक की वर्त्तमान परिपाटी के अनुसार वा स्वभाव से संसार में होता है उस का कहना सिद्धानुवाद कहाता है । वेद और वेदानुकूल शास्त्रों में जिस के लिये कहा गया कि यह इस प्रकार कर्त्तव्य है वा नहीं वह आज्ञा चिन्ह वाला धर्म है । अर्थात् जिस को कर्त्तव्य कहा है वह कर्म और उस कर्म के सेवन से सञ्चित हुए शुभ संस्कार भी धर्म संज्ञिक हैं यह पूर्व भी कह चुके हैं तिस से सिद्ध हुआ कि जिस के करने वा न करने की आज्ञा दी गयी उस का वैसा ही करना वा न करना धर्म कहाता है । शुभ की विधानपूर्वक निषिद्ध की निषेधपूर्वक करने न करने की आज्ञा देना ही धर्म है जैसे जिस से दुःखी हो उस से भी मर्मच्छेदन करने वाले कठोर वाक्य न बोलें यहां मर्मच्छेदन न करना भी धर्म ही है । अथवा "कठोर मर्मच्छेदक वाक्य न बोले चाहे दुःखी भी हो" यह वाक्य अधर्म को हठाने वाला होने से धर्मशास्त्र वा धर्मशासक है । ऐसा होने से विधि वाक्य ही धर्म को जताने वाले हो सकते हैं अन्य नहीं यह सिद्ध हुआ ॥

श्रेष्ठ लोगों के माने हुए वा बनाये हुए गद्य पद्यरूप वाक्य समुदायों से बने वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रों में मुख्यकर तीन प्रकार के ही वाक्य प्राप्त होते हैं सो न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य में लिखा है। अ० २ [आन्हिक २ सू० ६२–६४] कि एक जो प्रेरणा करने वाले वाक्य हैं उन्ही को नियामक वा आज्ञा भी कहते हैं। जैसे "स्वर्ग–सुख विशेष की कामना रखने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे" यह विधि वाक्य है॥

द्वितीय प्रकार के अर्थवाद वाक्य कहाते हैं। विधि वा आज्ञा के अर्थ नाम प्रयोजन को कहने वाले होने से उन का नाम अर्थवाद है इस अर्थवाद के अवान्तर भेद चार हैं। स्तुति। निन्दा। परकृति। और पुराकल्प। विधि के फल को दिखाने वाली प्रशंसा स्तुति कहाती है विधि के फल को दिखाने से कर्त्ता को प्रतीति वा विश्वास हो सकता है कि इस को करना चाहिये निष्फल नहीं है। अच्छा फल दिखा देने से कर्त्ता की श्रद्धा भी होती है इसी कारण स्तुति ही उस कार्य में प्रवृत्ति कराती है क्योंकि अच्छा फल सुन कर कार्य में मनुष्य प्रवृत्त होता है। अनिष्ट फल कहना निन्दा कहाती है उस दुष्ट काम से होने वाले निकृष्ट फल के दिखाने से कर्त्ता की अरुचि हो जावे जिस से निन्दित बुरे काम को न करे। जैसे कि "गौर्न हन्तव्या" यह विधि है गौ के मारने से जो बुरा फल होगा उस का दिखाना और "गौरक्षणीया" इस विधि वाक्य पर गौ की रक्षा से जो अच्छा फल होगा उस का दिखाना निन्दा स्तुतिरूप अर्थवाद कहाता है। अन्य किसी ने अच्छा वा बुरा किया उस को वैसा फल मिला यह दृष्टान्त दिखाना परकृति है। जैसे सत्य बोलना चाहिये और मिथ्या बोलना नहीं चाहिये। ये दोनों विधि वाक्य हैं सत्य बोलने में यह २ लाभ और मिथ्या बोलने में ऐसी २ हानि वा बुराई है देखो युधिष्ठिर सत्य बोलने से ऐसे प्रतिष्ठित धर्मात्मा कहाये और एक वार मिथ्या बोलने से उन को अमुक बुरा फल मिला यह परकृति है और इतिहास सम्बन्धी विधि पुराकल्प कहाता है। अर्थात् परम्परा से अनेक शुभ कर्म होते आते हैं उन को परम्परा के प्रमाण से कर्त्तव्य ठहराना पुराकल्प कहाता है। ये चारो प्रकार के अर्थवाद विधि की पुष्टि करते हैं वा सेवक के तुल्य हैं। परन्तु विधि वाक्य ही मुख्य प्रधान हैं। जिस कर्त्तव्य की विधि– आज्ञा वेद में नहीं उन के अर्थवाद भी नहीं आते। क्योंकि अर्थवाद विधि के आश्रय चलते हैं॥

अब तीसरे प्रकार के अनुवाद वाक्य हैं। अनुवाद दो प्रकार का होता है। एक तो शब्द को द्विवारा बोलना शब्दानुवाद और अर्थ नाम वाच्य को द्विवारा कहना अर्थानुवाद कहाता है। अनुवाद शब्द का मुख्य अर्थ यही है कि कहे को फिर से कहना। अब यह शङ्का है कि जिस को एक वार विधान कर चुके वा एक शब्द बोल कर जिस की आज्ञा दे चुके उस को फिर क्यों कहते हैं ? इस का समाधान यह है कि जिस को द्विवारा कहा जाता वह अति प्रशस्त वा अवश्य कर्त्तव्य कार्य माना जाता है अर्थात् द्विवारा कहने से विधि की प्रशंसा होती है जिस का अनुवाद किया जाय उस कर्म को निस्सन्देह उत्तम वा कल्याण का मार्ग समझ कर करना चाहिये। जैसे शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्य आते हैं वैसे ही लोक के व्यवहार में सर्वसाधारण [जिन्हों ने शास्त्र नहीं पढ़ा] भी इन्हीं तीन प्रकार के वाक्यों से व्यवहार करते हैं—यथा–भात पकावे वा रोटी बनाओ इत्यादि विधि वाक्य कहाते हैं। क्योंकि आयु, तेज, बल, सुख, और स्मरणशक्ति की वृद्धि तत्काल पकाये अन्न के भोजन से होती है यह अर्थवाद। पकाइये २ वा जाओ २ बैठो २। वा शीघ्र २ पकाइये इत्यादि अनुवाद कहाता है। यह सब न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य का आशय लिखा है। इन तीनों सूत्र पर जितना भाष्य था वह सब हमने यहां नहीं लिखा किन्तु प्रसङ्ग के अनुसार जितना प्रयोजन था उतना लिखा है शेष छोड़ दिया है। उक्त तीन प्रकार के वाक्य प्रायः ब्राह्मणादि वेद सम्बन्धी पुस्तकों में आते और संघटित होते हैं। तथा परकृति और पुराकल्प नामक दोनों अर्थवाद ब्राह्मण पुस्तकों में ही घटते हैं किन्तु अपौरुषेय सनातन वेद में नहीं घटते। अनुवाद शब्द का अर्थ जैसा वात्स्यायन ऋषि भाष्यकार ने दिखाया है वैसा वेद सम्बन्धी ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः आता है। और सिद्धानुवाद वा भूतानुवाद यह भी एक प्रकार का अनुवाद है यह लोक में भी प्रसिद्ध है और शास्त्रों में भी इस का प्रचार दीखता है। जब तीन वा चार प्रकार के वाक्य हैं तो एक विधि वाक्यों के सार्थक होने से अन्यों का व्यर्थ होना प्राप्त हुआ और यही बात पूर्वमीमांसा में भी कही है कि वेद के आज्ञारूप वाक्यों से कर्त्तव्य का उपदेश होने से जिन में कर्त्तव्य का उपदेश नहीं उन अक्रियार्थ वाक्यों की अनर्थकता होगी। इस कारण विधि वाक्यों को अनित्य समझना चाहिये। ऐसा पूर्व पक्ष करके वहीं उत्तर दिया है कि विधि वाक्यों के साथ अर्थवाद वाक्यों का एक कार्य में योगरूप सम्बन्ध रहने से अर्थवादादि

व्यर्थ नहीं किन्तु सार्थक हैं क्योंकि कोई सुख भोग चाहने वाला पुरुष अर्थवाद के विना आज्ञा का सेवन वा निषिद्ध का त्याग नहीं कर सकता। और फल भोग से विरक्त पुरुष को भी अर्थवाद अवश्य जानना चाहिये क्योंकि विहित का सेवन करे अन्य का नहीं यह भी अर्थवाद से ही जताया जाता है इस से वहां भी अर्थवाद सार्थक हैं॥

अब इस मानवधर्मशास्त्र में "(वैदिकैःकर्म०) वेद सम्बन्धी पुण्य के उत्पन्न कराने वाले कर्मों से ब्राह्मणादि तीनों वर्ण के शरीर के संस्कार करने चाहिये जिस से इस जन्म और जन्मान्तर में पवित्रता होती है" यह विधि तथा सामान्य से किसी कार्य का विधान कर पीछे उस की प्रशंसा वा फल दिखाना अर्थवाद है जैसे (गार्भै०) गर्भाधानादि संस्कारों में होने वाले होम और मन्त्र पूर्वक धारण किये चिन्हों से द्विजों—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के बीज सम्बन्धी वा गर्भ सम्बन्धी मलीनता के सब दोष छूट जाते हैं अर्थात् संस्कारों में ओषधियों का भी कहीं २ प्रयोग किया है उस से तथा अन्य पवित्रता के उपाय संस्कारों में होने से अपवित्रता दूर होती है यह पूर्वोक्तविधि पर अर्थवाद तथा कल्याण चाहने वाले पिता आदिपुरुषों को श्रेष्ठ धर्मज्ञा स्त्रियों का सत्कार और उन को भूषित करना चाहिये यह विधि वा आज्ञा है। इसी पर "जिन घरों में सती स्त्रियों की पूजा होती है वहां श्रेष्ठ सज्जन लोग निवास कर प्रसन्न होते हैं और जिन घरों में स्त्रियों का सत्कार नहीं वहां श्रेष्ठ लोग दुःखी होकर नहीं ठहरते अर्थात् विरक्तादि हो जाते हैं"। तथा अति भोजन न करे झूंठे कहीं न जावे। दुःख प्राप्ति में भी मर्म भेदी वचन न कहे, दूसरों से वैर विरोध करने में बुद्धि न लगावे इत्यादि कथन बुराई से बचने की आज्ञारूप विधि है तथा आलस्य निद्रा को छोड़ कर धर्म के मूल श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का सेवन करे इत्यादि सीधा कर्त्तव्य का विधान है। इस उक्त प्रकार से अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य की ही रक्षा और पुष्टि करते हैं। सिद्धानुवाद रूप वचन जो अनुवाद सम्बन्धी वाक्यों के अन्तर्गत हैं उन का प्रयोग मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों और वेदों में मिलता है। वेद में लिखा है कि—सूर्य एक विना किसी का सहाय लेकर अपनी कक्षा में डोलता और चन्द्रमा वार२ घटता बढ़ता अग्नि पाले का औषध और भूमि सब से बड़ा खेत है। इत्यादि सिद्ध बातों का कथन है किन्तु कुछ नवीनता नहीं इससे इस का नाम सिद्धानुवाद है। धर्मशास्त्रों में सृष्टि का वर्णन सिद्धानुवाद वा भूतानुवाद

है । स्वाभाविक वर्त्तमान द्रव्य गुण कर्मों का विभाग पूर्वक दिखाना भी सिद्धानुवाद का विषय है । और जब सिद्ध को ही जानने के विचार से कहते हैं तब वहां भी विधि ही जानना चाहिये । तथा "चेतन का अन्न—भक्ष्य जड़, दांत वाले प्राणियों के विना दांत वाले, हाथ वालों के विना हाथ वाले और शूर वीर सिंहादि प्राणियों का भक्ष्य अन्न डरपोंक प्राणी हैं,, "सत्वगुण को धारण करने वाले देवता, रजोगुण को धारण करने वाले मनुष्य और तमोगुणधारी जीव जन्तु पशु पक्षी आदि योनि को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार तीन गुणों के भेद से मुख्य कर तीन भेद वाले सब प्राणी हैं । गुणों के अवान्तर भेद एक २ में अनेक होने से योनियों में अवान्तर भेद पड़ते हैं,, इत्यादि अनेक वचन सिद्धानुवादपरक आते हैं । स्वाभाविक सिद्धानुवाद इस लिये कहा जाता है कि उस में विधि निषेध की उदासीनता समझी जावे क्योंकि जो गुणादि स्वाभाविक अच्छा बुरा है उस में कुछ हेर फेर न हो सकने से विधि निषेधरूप प्रयत्न करना कदापि सफल नहीं हो सकता स्वाभाविक गुणादि उस वस्तु की पूर्ण आयु तक रहता है और कहीं २ शुभ अशुभ लोक के वर्त्ताव को जताकर [कि ऐसा २ करने वाले ऐसा २ फल भोगते हैं] विधि निषेध की ओर मनुष्यों को झुकाने के लिये सिद्धानुवाद कहे जाते हैं जैसे शीत वा पाले की ओषधि जो जानता है वही शीत सम्बन्धी दुःख से बच सकता है । सब सिद्ध वस्तु को सब कोई नहीं जानता । इस लिये शास्त्रकार उन को जताने के अर्थ सिद्धानुवाद कहते हैं कि जिस से सृष्टि क्रमानुकूल गुण कर्मों का बोध हो जावे जिस से उस के अनुसार वर्त्ताव कर के मनुष्यों को सुख प्राप्त हों और दुःखों से बचें यही सिद्धानुवाद का प्रयोजन है । अब यह सिद्ध हो गया कि वाक्य समुदायरूप सब मान्यशास्त्रों में चार ही प्रकार के वाक्य हैं ।

ये तीन वा चार प्रकार के वाक्य जो दिखाये गये इस से शास्त्रों के अभिप्राय अच्छे प्रकार और शीघ्र बुद्धि में जम जाते हैं । इस प्रकार वाक्यविभाग न दिखाया जाय तो ठीक २ सिद्धान्त का बोध नहीं हो सकता इस लिये वाक्य विभाग दिखाना आवश्यक है । जहां २ इस पुस्तक में जो २ वाक्य आवेंगे वहां भाष्य में विधि आदि कर के लिख दिया जायगा कि यह विधि, अर्थवाद वा अनुवाद अथवा सिद्धानुवाद है । जिस से सर्वसाधारण लोगों को ज्ञात हो जायगा कि धर्मशास्त्र बनाने वाले ने हम को अमुक २ आज्ञा दी है तथा अमुक २

अर्थवाद आदि से उस को सार्थक ठहराया है। इस विषय पर अधिक लेख बढ़ सकता परन्तु प्रयोजनमात्र समझाना उचित समझ कर अधिक नहीं बढ़ाया गया॥

अथ धर्माणामुत्तममध्यमनिकृष्टत्वे सापेक्षत्वप्रदर्शनं नाम पञ्चमं प्रकरणमारभ्यते॥

इतः पूर्वं धर्मशब्दस्य शाब्दिको लाक्षणिकश्चार्थउक्तः। इदानीं धर्मस्यावान्तरभेदास्तत्स्वरूपं तत्सहायाश्च वक्तव्यास्तदनन्तरं तेषामुत्तममध्यमनिकृष्टादिसापेक्षतां वक्ष्यामः।

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति प्रमाणमाश्रित्य वृक्षरूपस्य धर्मस्य मूलं वेदो वेदादेव धर्मवृक्ष उत्पन्नइति विदुषां सम्मतम्। तस्य वृक्षरूपस्य धर्मस्य मुख्यास्त्रयएवावयवास्तथाचोक्तं ब्राह्मणोपनिषत्सु "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति"॥

वृक्षे प्रथमनिस्सृतस्थूलशाखानां स्कन्धइति संज्ञास्ति। तथैव धर्मस्य त्रयः स्कन्धा अवयवाइति यावत्। त्रिषु भागेषु विभक्तो धर्मइत्यर्थः। यज्ञशब्दार्थे कर्मोपासनाज्ञानानां सर्वेषामेवान्तर्भावः। वाच्येके जुह्वतिप्राणं प्राणे वाचं च सर्वदेत्यादिना सत्यभाषणप्राणायामादिधर्मोपि यज्ञान्तर्गतएव। अध्ययनं वेदादिशास्त्राणां तदाशयानां वाऽऽप्तमुखाच्छ्रवणं शुभगुणानां तज्जन्यसंस्काराणां धारणं च धर्मः। तेषामेव श्रवणेन धृतानां धर्मरूपसंस्काराणां परोपकाराय वितरणं दानम्। यद्वाऽन्येषां सुखहेतूनां स्वयं धृतपदार्थानां धनादीनां वितरणं दानम्। येन वस्तुना गुणेन कर्मणा वचनेन वा विना कस्यचिद्दुःखं प्राप्तं तच्च वस्त्वादिकं यदि स्वस्य सांनिध्येऽस्ति तेन तद्वस्त्वाद्यंशो दुःखिने देयइति दानमेव परमोधर्मइति। अन्ये च ये धर्मावयवा उपलभ्यन्ते ते चास्यैव त्रिविधस्य धर्मस्यावान्तरभेदाः

शाखारूपा भवितुमर्हन्ति । यथा मनुष्येण दयाऽवश्यं रक्षणीया तस्याश्च चिन्हं परदुःखनिवारणे परिश्रमः । यो दुःखितस्य दुःखं दूरीकर्तुं प्रवर्त्तते तस्य हृदि दयाऽनुकम्पा वाऽस्तीत्यनुमानात्प्रतीयते । एवमन्येपि भेदा अन्तर्गता भवन्ति ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इति मनुस्मृतौ षष्ठाध्याये। यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् । दानं दया ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः । द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ इति महाभारते वनपर्वणि यक्षसंवादे। तथा—इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा । अलोभइति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते । उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति । इत्यपि महाभारत उद्योगपर्वणि विदुरप्रजागरेऽस्ति। अयं च तेषामेव त्रयाणां सर्वो विस्तरोऽस्ति । धर्मस्य मुख्यं स्वरूपं तु सत्यमेव । अतएवोक्तं शास्त्रेषु—नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परमिति । तथा—नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति। अतो ज्ञायते यत्र२ छलकपटादेः प्रवेशस्तत्रतत्र यज्ञाध्ययनदानादीनामपि धर्मत्वाभावएव। एतेनात्मौपम्येन सर्वप्राणिषु प्रवृत्तिरपि धर्मस्य स्वरूपमिति व्याख्यातं भवति । नहि कश्चिच्छलादिपूर्वकं स्वार्थे किमपि कृत्यमिच्छति तद्वत्परार्थापि प्रवृत्तिः सत्यो धर्मइति । कुत्रचिदानृशंस्यं परो धर्मः । क्वापि मातापित्राचार्यादीनां सेवा परमो धर्मइत्यादिप्रकारेणानेकधर्मलक्षणानां यथावसरं यथाप्रयोजनं च प्राधान्यं प्रदर्शितम् । तच्च सर्वं सापेक्षं

प्राधान्यम् । निरपेक्षं निरतिशयं वा सत्यस्य प्राधान्यं, नास्ति धर्मस्वरूपेषु तादृशं प्राधान्यं कस्यचिदपीति सत्यमेव धर्मस्य स्वरूपम् । कर्मणोऽपि धर्म इति नामास्तीति पूर्वमुक्तम् । तथा च धर्मस्य मानसवाचिककायिकभेदेन त्रैविध्याद्दशभेदा वात्स्यायनभाष्ये प्रदर्शिताः ।

दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति । वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति । सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय । अथ शुभा शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च । वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति सेयं धर्माय । अ० १ । आ० १ सू० २ ।

यावन्तो धर्माधर्मयोरवान्तरभेदास्ते मुख्या दशविधाएव । एतेषामेवान्ये धर्माधर्मभेदा भविष्यन्ति । यथाऽसूयामत्सरतादीनां परद्रोहादिष्वन्तर्भावः । यथा वा कृतज्ञतादीनां दयादिषु च । धर्मस्य सहकारिसाधनानि प्रायशोऽस्मिन् मानवधर्ममीमांसाभाष्ये व्याख्यास्यन्ते । तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति न्यायेन साधनव्याख्यातृत्वादपि धर्मशास्त्रत्वम् ॥

धर्मस्य मुख्यतया द्वावेव भेदौ सामान्यो विशेषश्च स्वस्वकक्षायां द्वयोरपि प्राबल्यं प्राधान्यं च । सामान्यो धर्मः सर्वमनुष्यमात्रैरनुष्ठातुं योग्यः स्वीकर्त्तव्यश्च । अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ इत्यादिप्रकारेण बहुत्र व्याख्यातः सामान्यो धर्मः सर्वैरुपास्यः । यदर्थं च विशिष्टो धर्म उक्तस्तैरपि सामान्यः कारणरूपो धर्मः सेव्यएव । नहि हिंसको मिथ्यावादी वाऽध्यापनाध्ययनजपतपआदि

धर्म्यकर्माण्यनुष्ठातुमर्हति। अनुष्ठानेन वा तस्य साफल्यं भवितुमशक्यम्। अतएव मनुनापि कारणभूतस्य सामान्यधर्मस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम्—यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः। यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्। अत्र यमा-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। तेषां सेवनपुरस्सरं शौचादिनियमानां सेवनं शुभकरम्। विशेषइति भेदोऽधिकारिभेदात्। कर्मानुकूलाः शुभाशुभवासनास्तदनुकूलः संस्कारसंचयस्तस्य देशकालवस्तुभेदेन भिन्नत्वेन बुद्धिवैचित्र्यादधिकारिभेदः। यथा—युद्धं चेत्स्यात्तदा क्षत्रियत्वं परीक्ष्यते—यो युद्धे निर्भयोऽपराङ्मुखो धर्म्ययुद्धेन शरीरं त्यक्तुमुद्यतः सएव क्षत्रियः। यद्यपि क्षत्रियस्यान्येऽपि विशिष्टधर्माः सन्ति तथापि तेष्वप्ययं विशिष्टः। क्षतात्त्रायतइति निर्वचनेनापीदमेवावगम्यते नहि स्वयं मरणभयेनोद्विग्नः पुरुषः कंचित्क्षतात्त्रातुमर्हति नहि भीतेन भयाद्रक्षणं सम्भवति। तस्मात्क्षतात्त्राणमेव क्षत्रियस्य क्षत्रियत्वम्। इदं जात्या कर्मणा वा यथा सम्भवति तथा ब्राह्मणादिवर्णविचारप्रकरणे वक्ष्यामः॥

अस्मिन् प्रकरणे धर्माणां सापेक्षत्वं विचार्यमिति प्रस्तुतम्—कस्यचिल्लक्षणस्यापेक्षयैवेतरस्योत्तमता निकृष्टता वा भवितुमर्हति। अयं चोत्तमनिकृष्टव्यवहारः सर्ववस्तुषु सापेक्षो भवत्येव। यथा देवदत्तउत्तमः पण्डितो यज्ञदत्तश्च निकृष्टः। अत्र द्वयोरपि सापेक्षे एवोत्तमत्वनिकृष्टत्वे। नहि देवदत्तादुत्तमो यज्ञदत्ताच्च निकृष्टोऽन्यः कश्चित्पृथिव्यां नास्तीति वक्तुं शक्यते। यथा च वराटिकाद्यपेक्षया पणस्य तदपेक्षया रजतमुद्रायास्तदपेक्षयापि सुवर्णमुद्रायाश्च प्राशस्त्यमित्यादिप्रकारेणैव निकृष्टतापि कस्यचिदपेक्षया सर्वद्रविणवाच-

केष्वस्त्येव । तथैव प्रकृते धर्मलक्षणप्रसारेऽपि यत्र २ कस्यचिदु-
त्तमत्वं निकृष्टत्वं वा निरूप्यते तत्र २ सापेक्षमेव विज्ञेयम् । यथा
मातापित्राचार्याणां सेवा तदाज्ञापालनं च परमो धर्मइत्युक्तम् । नैव
तस्य सत्याचरणापेक्षया प्राशस्त्यमपित्वन्यसम्बन्धिविद्वत्सेवनापेक्ष-
या प्राशस्त्यमर्थात् पूर्वतो द्वितीयाध्याये योनिसम्बन्धे विद्यासम्बन्धे च
विद्यावयोवृद्धानां सेवाशुश्रूषे तदाज्ञानुकूलाचरणं च कार्यमित्युक्तम् ।
तदपेक्षया योनिसम्बन्धे मातापित्रोर्विद्यासम्बन्धे च गुरोराज्ञापालन-
मेव तेषां प्रियाचरणं च वरमित्युक्तं भवति । अतएव सर्वैः सह यथा-
योग्यवर्त्तनं सामान्यम् । मात्रादीनां सेवा च तदपेक्षया विशिष्टा
तथा च सर्वशास्त्राध्ययनं सामान्येन धर्मः । तदपेक्षया विशेषतया
वेदाध्ययनं प्रशस्तो धर्मः । कुत्रचित्कस्यचिदपेक्षया हीनत्वं प्रतिपा-
दितम् । तत्र कथंचित्स्वस्वप्रसंगे द्वयोरपि धर्मत्वं सम्भवेत्तथापि
यस्य हीनत्वमकर्त्तव्यत्वमुच्यते यस्य करणं तदानीं कस्यचिदपेक्षया
हानिकरं तस्याधर्मत्वमुच्यते तत्र भयानकवचांसि च प्रतिपाद्यन्ते
यस्य च विशिष्टप्रबलफलप्रदत्त्वेन कर्त्तव्यत्वमिष्टं तस्य धर्मत्वमुच्य-
ते तत्र रोचकवचांस्यर्थवादरूपाण्यप्युच्यन्ते । येन तस्मिन् स पुरुषः
प्रवर्त्तेत । एवं रोचकभयानकवचनान्यपि धर्मशास्त्रेषु वर्त्तन्ते । तानि
च सार्थकानि ।

एतत्कथनेन धर्माणां सापेक्षत्वं विज्ञाय यस्य यदा करणं श्रेयः
यस्यापेक्षया च यस्य करणं श्रेयस्करं तत्तु प्रयत्नेन कार्यमेव यथा
सर्वमान्यानां सेवा शुश्रूषा च कर्त्तुमशक्या चेन्मातापित्राचार्याणां
तु कार्यैव सर्वेषां शक्या चेन्मात्रादीनां विशेषप्रयत्नेन कार्या । मात्रा-
दीनां सेवनापेक्षयाऽन्येषां सेवनं दुःखप्रदम् । मातापित्राचार्याणां
सेवां विहायान्यसेवको नैव धार्मिकइत्याशयः ॥

भाषार्थः—अब धर्मों की उत्तम मध्यम निकृष्टता का सापेक्ष होना इस पांचवें प्रकरण में दिखाते हैं—इस से पूर्व धर्म शब्द का व्याकरण और कोष सम्बन्धी दोनों अर्थ दिखाया गया है। अब धर्म के अवान्तर भेद, उस का स्वरूप और उस धर्म के सहायकारी कहने चाहिये इस के पीछे धर्मों के उत्तम मध्यम निकृष्ट होने में सापेक्षता कहेंगे।

इसी मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि "सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है" इस प्रमाण का आश्रय लेकर वृक्षरूप धर्म का मूल वेद है क्योंकि वेद से ही धर्मरूप वृक्ष उगता है यह विद्वानों का सिद्धान्त है उस वृक्षरूप धर्म के तीन अवयव वा भाग मुख्य हैं। सो ब्राह्मणों वा उपनिषदों में ठीक २ कहा है कि "धर्म के तीन काण्ड वा गुट्टे हैं–यज्ञ, अध्ययन और दान,,। वृक्ष में पहिले निकलने वाली स्थूल शाखाओं को स्कन्ध (गुट्टा) कहते हैं। वैसे धर्म के मुख्य वा स्थूल तीन अवयव हैं यज्ञ शब्द से कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों का ग्रहण होता है इसी लिये धर्मशास्त्र में लिखा है कि "कोई विद्वान् लोग वाणी में प्राण का और कोई प्राण में वाणी का होम करते हैं" अर्थात् यह अध्यात्म यज्ञ है। जो लोग प्राण की क्रिया को वाणी में अर्थात् देखने सुननेरूप क्रिया को वाणी में समाप्त करते अर्थात् वाणी से पढ़ना पढ़ाना धर्म सम्बन्धी सत्य विषयों का उपदेश करना वा स्तुति प्रार्थना की प्रवृत्ति बढ़ाना और अन्य इन्द्रियों के कार्य को शिथिल करना जानते हैं वे ही जानो वाणी में अर्थात् कर्मेन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रियों को शिथिल वा लीन करते हैं। और जो प्राण में वाणी का होम करते हैं वे ज्ञानेन्द्रियों में कर्मेन्द्रियों की वृत्ति को समाप्त करते हैं। क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों की मुख्य प्रवृत्ति करने वाला प्राण है। और वाणी में प्राण का वा प्राण में वाणी का कोई लोग होम करते हैं इस कथन का मुख्य अभिप्राय तो यही है कि सत्य-भाषण और प्राणायामादि धर्म सम्बन्धी कृत्य भी एक यज्ञ ही है। वेदादि शास्त्रों वा उन के अभिप्रायों को सत्यवक्ता विद्वान् के मुख से सुनना और उस सुनने से हुए अच्छे संस्कार वा शुभगुणों का धारण करना अध्ययनरूप धर्म कहाता है। उन वेदादि के ही सुनने से धारण किये धर्मरूप संस्कारों को परोपकार होने के लिये देना दान कहाता है अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार अन्यों को सुख पहुंचाने के लिये विद्या वा धर्म सम्बन्धी उपदेश करना वाणी का देना। मन से अन्यों का भला चाहना मन का दान। और शास्त्र में लिखे अनुसार

सुपात्रों का धनादिसे यथायोग्य सत्कार करना शरीर से दान है। अर्थात् जिन पदार्थों से अन्य प्राणियों को सुख पहुंचे तथा वे पदार्थ अपने पास हों तो दूसरों को देना मुख्यकर दान है। प्रयोजन यह है कि जिस वस्तु को हम देना चाहते हैं वह याचक के पास भी है और उस के देने से ग्रहीता को विशेष सुख नहीं पहुंचता तो वह मुख्य दान नहीं किन्तु गौण है। इस से सिद्ध हुआ कि जिस वस्तु, गुण, कर्म वा वचन के विना किसी को दुःख मिल रहा है और वही वस्तु आदि यदि अपने निकट है तो उस मनुष्य को उस वस्तु आदि का अंश उस दुःखी आदि को देना चाहिये यही दान परमधर्म है। और जो दया क्षमा जितेन्द्रियतादि अन्य धर्म के अवयव दीख पड़ते हैं वे इसी तीन प्रकार के अवान्तर भेद हैं। जैसे दान के अन्तर्गत दया घुस जाती है। क्योंकि दया का प्रयोजन है कि दुःखी पर दया करे तो उस को दुःख हटने के लिये औषध देवे कि जिस से उस का दुःख दूर हो तो जानो वह पुरुष दयालु है। दया दान में भेद केवल यही है कि दया केवल मानसधर्म है और दान मुख्यकर वाणी और शरीर से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार अन्य भी भेद इन्हीं में आ जाते हैं॥

मनुस्मृति के षष्ठाध्याय में लिखा है कि धृति—धैर्य, क्षमा—सहना, दम—इन्द्रियों की भीतरी वृत्ति को वश में रखना, अस्तेय—आज्ञा के विना किसी के वस्तु को न लेना, शौच—मन वा शरीर को भीतर बाहर शुद्ध रखना अर्थात् मिथ्या व्यवहार न करना इसी लिये पञ्चमाध्याय में लिखा है कि—

योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

जो लेन देनरूप व्यवहार में शुद्ध है जो कभी मिथ्या व्यवहार वा छल प्रपञ्चादि नहीं करता है वही शुद्ध है और उस की अपेक्षा मट्टी जल से शुद्ध हुआ वैसा शुद्ध नहीं। अर्थात् इस का यह अभिप्राय नहीं है कि मट्टी जल से शुद्धि न करनी चाहिये वा करना अच्छा नहीं किन्तु अभिप्राय यह है कि एक तो केवल मट्टी जल से शरीर को शुद्ध रखता और एक पुरुष शुद्ध सत्य व्यवहार करता भीतर से किसी प्रकार का छल कपट नहीं रखता इन दोनों में व्यवहार की शुद्धि रखने वाला उस की अपेक्षा अच्छा श्रेष्ठ है। दोनों प्रकार की शुद्धि न रखने की अपेक्षा केवल शरीर को शुद्ध रखने वाला भी उत्तम है परन्तु दोनों प्रकार की भीतर बाहर शुद्धि रखने वाला केवल व्यवहार की शुद्धि रखने वाले की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस प्रकार ये सब सापेक्ष हैं॥

विषयों पर गिरने से इन्द्रियों को रोकना इन्द्रियनिग्रह कहाता है। धी-कर्त्तव्याकर्त्तव्य को न भूलना वा विचार पूर्वक परिणाम को शोच कर कार्य का प्रारम्भ करना, विद्या पढ़ना, सत्य बोलना और क्रोध को छोड़ना ये आध्यात्मिक सामान्यकर धर्म के दश चिन्ह हैं ये चिन्ह जिस में हों वह पुरुष सामान्य कर धर्मात्मा कहाता है। ये सामान्य धर्म के स्वरूप हैं। इन के साथ सामान्य विशेषण इस लिये लगाया है कि ये किसी निज ब्राह्मणादि वर्ण के धर्म नहीं किन्तु सब वर्णों वा सब आश्रमियों को सेवने योग्य हैं। यद्यपि सामान्य धर्म का सेवन किये विना विशेष का सेवन ठीक२ उपकारी नहीं हो सकता तथापि यदि दोनों का एक साथ सेवन आ पड़े और एक ही का हो सकता हो तो वहां विशेष का सेवन करना चाहिये और सामान्य को छोड़ देना चाहिये यही विशेष धर्म में विशेषता है। और इसी आशय को लेकर कहा गया है कि "विशेषो बलवान् भवेत्" विशेष प्रबल होता है। इसी लिये इस श्लोक से पूर्व ९१ श्लोक में यह धर्म चारो आश्रम वालों को सेवने योग्य लिखा है॥

महाभारत के वन पर्वान्तर्गत यक्ष युधिष्ठर संवाद में लिखा है कि-(यशः) अच्छे२ संसारी मनुष्यों को सुख पहुंचानेरूप धर्मसम्बन्धी कार्यों के करने से संसार में कीर्त्ति होना (सत्यम्) मन वचन कर्म से सत्य का वर्त्ताव करना (दमः) इन्द्रियों के साथ लगी मन की वृत्ति को वश में करना (शौचम्) विद्या तप आदि से भीतरी मन की और मट्टी जलादि से बाहिरी शरीर की शुद्धि करना (आर्जवम्) कोमलता का वर्त्ताव करना अर्थात् गर्व,मान अभिमान ईर्ष्या द्वेष वा क्रोधादि का छोड़ना (ह्रीः) बुरे निन्दित काम से लज्जित होना (अचापलम्) चपलता का छोड़ना (दानम्) सुपात्रों को विद्या धनादि का यथायोग्य देना (दया) चित्त में दूसरों के दुःख हटाने की इच्छा रखना वा अन्य के दुःख में दुःख मानना (ब्रह्मचर्यम्) धर्मशास्त्रों में लिखे अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का यथावत् सेवन करना वा गृहाश्रम में भी परस्त्री के साथ व्यभिचार छोड़ कर अपनी स्त्री के साथ ऋतुकालाभिगामी होना ये सब धर्म के शरीर वा स्वरूप हैं। अर्थात् इन सब का होना ही साक्षात् धर्म का होना है। और ये लक्षण जिस में हों वही धर्मात्मा कहाता है॥

तथा महाभारत के उसी स्थल में यह भी लिखा है कि (अहिंसा) सबकाल में सब प्राणियों से सब प्रकार द्रोह न रखना (समता) अपने तुल्य सब को सम-

झना जैसे हम अपने लिये किसी प्रकार का दुःख वा दुःख की सामग्री नहीं चाहते वैसे जान लें कि अन्य भी कोई नहीं चाहता होगा। जैसे दुःख देने वाले को हम बुरा समझते हैं वैसे यदि हम किसी को दुःख दें तो हम को भी वह वैसा ही समझे गा। इस का नाम समता है। इसी को आत्मौपम्यदर्शन भी कहते हैं (शान्तिः) व्याकुल न होना न घबराना (तपः) भूख प्यास मान अपमान आदि में हर्ष शोक न करना (शौचम्) पवित्रता रखना (अमत्सरः) ईर्ष्या मत्सरता का छोड़ना ये सब धर्म के द्वार हैं अर्थात् धर्मरूप दुर्ग में घुसना चाहे वह इन अहिंसादि का सेवन करे जो मनुष्य अहिंसादि की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया वह जानो धर्म के द्वार पर पहुंच गया। परन्तु यह भी सामान्य धर्म है अर्थात् सब मनुष्यमात्र को सेवने योग्य है॥

तथा महाभारत उद्योगपर्व के विदुरप्रजागर में यह लिखा है कि (इज्याध्ययनदानानि) यज्ञ करना वेदादि का पढ़ना और दान देना, तप—मानापमानादि का सहना, सत्य बोलना, क्षमा करना, बुराई से घृणा रखना, लोभ छोड़ के सन्तोष को धारण करना यह आठ प्रकार का धर्म सम्बन्धी मार्ग है इस पर चलने वाला धर्मनिष्ठ वा धर्मात्मा कहाता है। यह सब भी उन्हीं तीन यज्ञादि धर्मों का व्याख्यान वा विस्तार है। इन पूर्वोक्त धर्म के आठ भेदों में से यज्ञ, अध्ययन, दान, तप ये चार दम्भ के लिये भी सेवन किये जाते हैं अर्थात् अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध करने के लिये ढोंगलीला करने वाले लोग भी दिखानेमात्र यज्ञादि करते वा कर सकते हैं। और पिछले सत्यादि चार धर्म के लक्षण दुरात्मा वा अधर्मियों में नहीं ठहर सकते। अर्थात् पिछले चार का सेवन दम्भ से नहीं हो सकता। परन्तु धर्म का मुख्य स्वरूप तो सत्य ही है इसी कारण शास्त्रों में सर्वोपरि सत्य की प्रशंसा लिखी है कि—सत्य से परे कोई उत्तम धर्म नहीं और मिथ्या व्यवहार से परे बुरा कोई पाप नहीं। तथा जिसमें सत्य का लेश नहीं वह धर्म नहीं है इस से सत्य और धर्म का समवाय सम्बन्ध समझना चाहिये कि जहां २ सत्य रहता वहां २ धर्म वा जहां २ धर्म है वहां २ सत्य अवश्य रहता है। इस से ज्ञात होता है कि जहां २ छल कपटादि का प्रवेश है वहां २ यज्ञादि को भी धर्म नहीं कह सकते। इसी से अपने तुल्य सब के सुख दुःख को देखना रूप समता भी धर्म का स्वरूप है यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि मेरे साथ कोई छल कपटादि करे ऐसा कोई नहीं चाहता तो समदर्शी होना भी सत्याचरण के

अनुकूल ही बन सकता है। तात्पर्य यह कि जैसे "हाथी के पांव में सब का पांव" यह जनश्रुति—(कहावत) प्रसिद्ध है वैसे सत्य नामक धर्म के लक्षण में सब लक्षण अन्तर्गत हो जाते हैं। और कहीं आनृशंस्य को परमधर्म माना है। आनृशंस्य नाम दया वा रक्षा करने का है दोनों का तात्पर्य यह है कि दुःखी प्राणी वा मनुष्यों को दुःख से बचाना इस की उत्तमता भी सापेक्ष है। सब पर दया वा सब की रक्षा करने की अपेक्षा मनुष्य की रक्षा करना वा मनुष्य जाति पर दया करना उत्तम है। पर सत्य सब धर्म के अंशो में मिला रहता है इसी से बनावटी दया वा रक्षा को कभी धर्म नहीं कह सकते। इस लिये सत्य ही मुख्य धर्म का स्वरूप है अन्य सब उस के सहायकारी हैं॥

कहीं माता पिता और आचार्य की सेवा को परम धर्म माना यह भी उक्त प्रकार से सापेक्ष है और सत्य के आश्रय है इत्यादि प्रकार से धर्म के अनेक लक्षणों की यथावसर वा यथाप्रयोजन प्रधानता दिखायी है वह सब की प्रधानता सापेक्ष है। निरपेक्ष वा निरतिशय (वे हद्द) प्रधानता केवल सत्य की है कि जिस के तुल्य धर्म के स्वरूपों में किसी की प्रधानता नहीं इस से सिद्ध हुआ कि सत्य ही धर्म का स्वरूप है। कर्म का भी धर्म नाम है यह पहिले कह चुके हैं इसी के अनुसार कह सकते हैं कि "धर्म किया, धर्म करता है, धर्म करेगा, धर्म कर इत्यादि" इसी अंश को लेकर मन वाणी और शरीर के भेद से धर्म वा अधर्म के तीन भेद वात्स्यायन ऋषि ने न्याय भाष्य में दिखाये हैं "संसार में तीन दोष हैं जिन का नाम राग द्वेष और मोह रक्खा है अन्य दोष इन्हीं तीन के साथ लग जाते हैं जैसे काम, मत्सरता, तृष्णा, स्पृहा और लोभ राग के साथी। क्रोध, ईर्ष्या, निन्दा, पिशुनता (चुगली) द्रोह और अमर्ष इत्यादि द्वेष के साथी और मिथ्याज्ञान, सन्देह, अभिमान तथा प्रमाद आलस्यादि मोह के साथी हैं। इन्हीं दोषों के वशीभूत होने से मनुष्य पाप करता है अर्थात् इन दोषों की प्रेरणा से जो कुछ चेष्टा मनुष्य करता है उस के दश भेद होने से दश नाम पड़ते हैं जिस में तीन प्रकार का पाप शरीर से होता है। एक तो वेद की वा धर्मशास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध हिंसा करना (अर्थात् किन्हीं प्राणियों को किसी लोभादि के वश हो कर मारना वा उन को महाकष्ट पहुंचाने का उद्योग करना। वेदादि के अनुकूल हिंसा करना वैदिकी हिंसा कहाती है उस का करना पाप के अन्तर्गत नहीं किन्तु धर्म ही माना गया है। जैसे

क्षत्रिय लोग संग्राम में एक दूसरे को निर्भय हो कर मारें वहां शत्रुओं को मारने में पाप नहीं। महा अधर्मी मनुष्य को मारने में कदापि पाप नहीं। आततायी—जो सामने शस्त्र लेकर मारने को आता हो। उस के मारने में पाप नहीं। राजा को वध योग्य के मरवा डालने में पाप नहीं सिंह व्याघ्र वृश्चिकादि हिंसक जन्तुओं के मारने में पाप नहीं। इत्यादि प्रकार की हिंसा वेदानुकूल है इस लिये इस को हिंसा नहीं कहते किन्तु अहिंसा के तुल्य इस को भी धर्म ही मानना चाहिये) द्वितीय चोरी—जो स्वामी की आज्ञा के विना किसी वस्तु को ले लेना। तृतीय निषिद्ध मैथुन करना अर्थात्—माता भगिनी गुरुपत्नी आदि से व्यभिचार करना ये तीन प्रकार के शारीर पाप हैं। तथा मिथ्या बोलना, हृदय में छेद करने वाला कठोर वचन बोलना, सूचना—किसी की किसी से बुराई करना, तथा असम्बद्ध व्यर्थ बहुत बोलना ये चार प्रकार के वाचिक—वाणी से होने वाले पाप हैं। दूसरों को मारने वा दुःख देने की इच्छा रखना, दूसरों के द्रव्य को ले लेने की इच्छा रखना, तथा नास्तिकता कि—जन्मान्तर वा परलोक में जो बुरे कर्मों का बुरा फल शास्त्रों में लिखा है वा पण्डितों द्वारा सुना जाता है सो ठीक नहीं यहां निरन्तर आनन्द भोगना चाहिये परलोक किस ने देखा है आज तक लौट कर किसी ने सन्देश नहीं दिया कि वहां ऐसा नरक भोग मैंने किया, केवल भय दिखानामात्र है इत्यादि प्रकार की इच्छा वा विचार रखना नास्तिकता कहाती है। यह तीन प्रकार का मानस—मन सम्बन्धी महापाप है। सो यह सब पापरूप दश प्रकार का कर्म अधर्म बढ़ाने वाला है॥

और पूर्वजन्म वा इस जन्मसम्बन्धी अच्छे पुण्य कर्मों से हृदय के बीच जो शुभ संस्कार सञ्चित होते हैं वही सञ्चित पुण्य है उस की प्रेरणा से जो मनुष्य क्रिया करता है वही दश प्रकार का पुण्य वा धर्म कहाता है, जैसे द्रव्य धनादि का हाथ से दान देना, शरणागत वा धर्मात्मा मनुष्यों वा उपकारी गौ आदि प्राणियों की सब प्रकार रक्षा करना और माता पिता वा गुरु आदि की सेवा शुश्रूषा यथावत् करना यह तीन प्रकार का शरीर से होने वाला पुण्य वा धर्म है। सत्य बोलना, सब का वा अधिक का हितकारी वचन बोलना, प्रिय बोलना और वेदादिशास्त्र पढ़ना यह चार प्रकार का वाचिक—वाणी से होने वाला पुण्य वा धर्म है। सब पर दया करना, किसी से कुछ लेने की इच्छा न रखना किन्तु मन में सन्तोष रखना और धर्म सम्बन्धी कामों में तथा परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनादि शुभ कर्म में श्रद्धा रखना यह तीन प्रकार का मानस धर्म है॥

ये ही तीन प्रकार के अधर्म दश भेदों सहित मनुस्मृति के १२ अध्याय में लिखे हैं। वहां धर्म के दश भेद यद्यपि नहीं हैं तो भी एक के कहने से द्वितीय उस का प्रतियोगी उसी में से निकल आता है जैसे हिंसा कहा तो अहिंसा शारीरक पुण्य होगा। अहिंसा और परित्राण दोनों का एक ही आशय है अर्थात् अहिंसा में हिंसा का निषेध मात्र कर देने से तात्पर्य नहीं किन्तु उस के प्रतियोगी का ग्रहण अर्थापत्ति से समझना चाहिये। इसी प्रकार परद्रोह रखना मानस पाप और उस के बदले में दया रखना मानस पुण्य तथा झूठ बोलना वाचिक पाप और सत्य बोलना वाणी सम्बन्धी पुण्य है। इस प्रकार एक के कहने से दूसरे अर्थापत्ति से आ सकते हैं इस लिये मनुस्मृति में दोनों भिन्न२ नहीं गिनाये॥

जितने धर्म और अधर्म के भीतरी भेद हैं वे सब मुख्य कर दश प्रकार के ही हैं अन्य भेद इन्हीं में आजाते हैं। जैसे किसी की निन्दा वा मत्सरतादि का परद्रोह के बीच मेल है अथवा जैसे कृतज्ञतादि का दयादि में मेल हो जाता है। धर्म के सहकारी साधनों का प्रायः इस मानवधर्ममीमांसा भाष्य में व्याख्यान किया जायगा। जैसे रसोई बनाने के साधन जोड़ने वाले को भी रसोई बनाता कहते हैं वैसे धर्म के सहकारी साधनों का व्याख्यान होने से भी इस को धर्मशास्त्र ही कहेंगे॥

धर्म के मुख्यकर दोही भेद हैं एक सामान्य दूसरा विशेष। अपनी २ कक्षा में दोनों की प्रधानता वा प्रबलता है। सामान्यधर्म वह है जिस का सब मनुष्य मात्र को सेवन करना वा स्वीकार करना योग्य है इस में किसी के लिये किसी प्रकार का भेदभाव नहीं। इस पर लिखा भी है कि—"अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, शुद्धि रखना और इन्द्रियों को वश में करना यह संक्षेप से सब वर्णों का सामान्य धर्म है यह बात मनु जी ने विशेषकर कही है। इत्यादि प्रकार से अनेक स्थलों में व्याख्यान किया गया सामान्यधर्म सब को सेवने योग्य है। और जिन के लिये विशेष धर्म भिन्न २ कहा गया है उन को भी कारणरूप सामान्य धर्म सेवने योग्य है। अर्थात् हिंसक वा मिथ्यावादी पुरुष पढ़ने पढ़ाने और जप तप आदि धर्म सम्बन्धी कर्मों का सेवन नहीं कर सकता। कदाचित् दम्भ बढ़ाने को करेगा तो उस की पोल अवश्य खुल जायगी। तथा करने पर उस की सफलता होना दुस्तर है। इसी लिये कारणरूप सामान्यधर्म की मनु जी ने भी प्रधानता दिखायी है कि—"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह,

इन सामान्य कर्त्तव्यरूप यमों का सेवन निरन्तर करे किन्तु केवल शौचादि नियमों का सेवन न करे क्योंकि केवल नियमों का सेवन करने से और यम का सेवन न करने से मनुष्य पतित हो जाता है इस से सिद्ध हुआ कि अहिंसादि यमों का सेवन करता हुआ शौचादि नियमों का सेवन करे इसी में कल्याण है ॥

विशेषधर्म–किन्ही निज मनुष्यों को जो कर्त्तव्य हो और जिस के करने योग्य सब न हों वह विशेष धर्म है ॥

इस पर कोई शङ्का करे कि धर्म तो सब का एकही होना चाहिये। धर्म का भेद पड़ने से ही मनुष्यों में फूट पड़ती है इस लिये ईश्वर के उपदेश किये धर्म में भेद न होना चाहिये जैसे कि पृथिवी जलादि में उस ने भेद नहीं रक्खा सब के चलने फिरने को एक ही पृथिवी एक ही वायु आकाशादि हैं। वैसे ईश्वरोपदिष्ट धर्म भी सब के लिये एकसा होना चाहिये ॥

इस का उत्तर यह है कि पृथिवी जल वायु आदि में भी भेद है सब के लिये एकसी पृथिवी वा वायु आदि नहीं है। देखो–भंगी पुरीषालय–(पाखाने) के निकट घृणित दुर्गन्धयुक्त पृथिवी में रहता है जहां हो कर श्रीमानों का निकल जाना दुस्तर है। ऐश्वर्यवान् लोग अनेक प्रकार चित्र विचित्रता से रमणीय स्वर्ग भूमि में रहते हैं जहां नीचों का पहुंचना असम्भव है किन्हीं के समीप पुष्पादि का सुगन्धित वायु चल रहा है तथा कहीं ग्रीष्म ऋतु शीतल मन्द सुगन्ध-पवन वह रहा है कहीं दुर्गन्ध युक्त उष्ण लपट चलता है जिससे शरीर जला जाता है क्या यह पृथिवी वायु आदि का भेद नहीं है ?। और यह भेद अपने २ कर्मानुसार ही होता है। कर्म के भेद से ही अधिकारियों का भेद मानना चाहिये। जैसे पुरीषालय के शोधक चाण्डालादि राजा के तुल्य सुख के अधि-कारी वा प्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं हो सकते वैसे ही सब मनुष्य सब प्रकार के धर्म का सेवन करने योग्य नहीं हो सकते। सब को सब काम कर सकने की योग्यता हो जावे ऐसा कभी न हुआ और न होगा। यही कारण अधिकारी और अधिकारों में भेद होने का है। इसी मूल पर वर्णव्यवस्था ठहरती वा माननी पड़ती है और सब को माननी भी चाहिये। संसार में कोई ऐसा समुदाय नहीं जो वर्णव्यवस्था को न मानता हो। हां केवल मानने में अवान्तर भेद अवश्य हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि हम वर्णाश्रम भेद को नहीं मानते तो हम यही उत्तर देंगे कि जैसे सूर्य के प्रकाश विना कोई मनुष्य नेत्र से कुछ नहीं देख सकता

तो भी कोई न माने कि मुझे सूर्य के प्रकाश की कुछ आवश्यकता नहीं मैं अपने नेत्रों से देखता हूं। फिर ऐसे हठी मनुष्य से क्या कहा जावे। और उसको कोई पूछे कि यदि तुम नेत्र से ही देखते हो तो अन्धेरी रात में भी विना दीपकादि के नेत्र से क्यों नहीं देख लेते? उस समय भी तुम्हारे नेत्र तो बने ही हैं केवल सहायकारी सूर्यादि का प्रकाश नहीं है तो क्या उत्तर देगा? अर्थात् कुछ भी नहीं। इस लिये धर्म में भेद अवश्य मानना चाहिये। और सामान्य धर्म सब मनुष्यों का एक है यही सब में साधर्म्य है। धर्म के भेद से मनुष्यों में फूट नहीं पड़ती और जिससे फूट पड़ती है उस पौराणिक मतवाद का नाम धर्म नहीं। यहां शास्त्रीय व्यवस्थानुसार अन्तःकरण से धारण करने योग्य दृढ़ विचार का नाम धर्म है सो सब का विचार एकसा नहीं हो सकता। यह धर्म भेद को न मानना एक नास्तिक मत है कि जिनका सिद्धान्त वर्णाश्रम धर्म भेद के न रखने पर है। इस लिये यहां थोड़ा सा लिख दिया है इस का विशेष विचार वर्णव्यवस्था प्रकरण में किया जायगा। यहां केवल आशय यही था कि विशेष धर्म ब्राह्मणादि वर्णों का भिन्न२ है इसी से उसको विशेष कहते हैं। एक स्थल मे विशेषता को हटाया जावे और वह हटाना ठीक हो तो अन्यत्र भी विशेषता के न ठहर सकने से विशेष की अपेक्षा रखने वाला सामान्य भी बिगड़ जायगा। इसी लिये विशेष धर्म भी मानना चाहिये।

सामान्य और विशेष का भेद अधिकार के भेद से होता है जैसे सब मनुष्य राजा वा अधिकारी नहीं हो सकते। इस से मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि उत्तम अधिकार मिलने का सब किसी को उपाय ही न करना चाहिये किन्तु यही मुख्य कर्त्तव्य है कि सब लोग पूर्ण प्रयत्न करें कर्मानुकूल ही वर्त्तमान अधिकारियों को भी जब अधिकार मिला है तो हम को भी कर्म से अधिकार मिल सकता है। इस लिये उपाय सब को अवश्य करना चाहिये। मनुष्य जैसे शुभ अशुभ कर्मकरता है वैसी ही वासना और वैसे ही उस के हृदय में संस्कार उत्पन्न होते हैं वे संस्कार देशकाल और वस्तुओं के भेद से भिन्न २ हैं इसी कारण बुद्धि की विचित्रता होने से अधकारियों का भेद होता है। जैसे यदि युद्ध हो तो क्षत्रियपन की परीक्षा हो सकती है। यदि संग्राम से विमुख हो जावे तो क्षत्रिय समुदाय में गिना जाने पर भी वह क्षत्रिय नहीं यही मानना पड़ेगा। किन्तु जो निर्भय हो कर सन्मुख युद्ध करता २ शरीर छोड़ दे वा शत्रुओं को जीत ले वही क्षत्रिय है। यद्यपि

क्षत्रिय के अन्य भी विशेष धर्म हैं तो भी उन सब में यह और भी अधिक विशेष है । जो दुःख से बचावे अर्थात् प्रबल प्राणियों से निर्बल वा दीनों को दुःख न पहुंचने देवे वही क्षत्रिय है यह क्षत्रियशब्द के अर्थ से उस का धर्म वा तत्त्व प्रतीत होता है इस अर्थ से भी यही ज्ञात होता है कि जो युद्ध में मरण भय से न डरे वही क्षत्रिय है क्योंकि जो आप मारे जाने से डरेगा वह अन्य प्रजा की रक्षा क्या कर सकता है ? जो स्वयं डर गया वह अन्य को भय से क्यों कर बचा सकता है ? इस लिये दोनों प्रकार बलवानों से बचाना ही क्षत्रियों का क्षत्रियपन है । यह ब्राह्मणादि वर्णों का धर्म जन्म से वा कर्म से जिस प्रकार मान सकते हैं सो ब्राह्मणादि वर्ण विचार प्रकरण में कहेंगे ॥

इस प्रकरण में धर्मों की सापेक्षता का मुख्य विचार करना चाहिये ऐसा प्रस्ताव हो चुका है । किसी लक्षण की अपेक्षा से ही अन्य किसी की उत्तमता वा नीचता हो सकती है । यह ऊंच नीच का व्यवहार सब वस्तुओं में सापेक्ष होता ही है। जैसे कहा जावे कि देवदत्त उत्तम पण्डित और यज्ञदत्त नीच बुद्धि है यहां दोनों की ऊंचता वा नीचता सापेक्ष है क्योंकि देवदत्त से उत्तम और यज्ञ-दत्त से नीच कोई मनुष्य पृथिवी पर न हो ऐसा हो नहीं सकता वा कह नहीं सकते । और जैसे कौड़ी की अपेक्षा पैसा और पैसा की अपेक्षा चांन्दी के रुपये और उस की अपेक्षा सुवर्ण की मुद्रा–मोहर (अशरफी) की प्रशंसा है इत्यादि प्रकार से ही सब धन वाचकों में नीचता भी किसी की अपेक्षा से ही होती है। वैसे ही प्रकृत धर्म के लक्षणों के प्रस्तार में भी जहां२ किसी की ऊंचता वा नीचता कही जाती है वहां२ सापेक्ष ही जानना चाहिये । जैसे माता पिता और गुरु की सेवा करना वा उन की आज्ञा का पालन परमधर्म कहा है । पर उस की प्रशंसा सत्याचरण की अपेक्षा नहीं किन्तु अन्य सम्बन्धी वा विद्वान् लोगों की सेवा करने की अपेक्षा से प्रशंसा है । सब की अपेक्षा ले कर योनि सम्बन्ध में माता पिता की और विद्या सम्बन्ध में गुरु की आज्ञा का पालन और उन के साथ प्रियाचरण करना ही श्रेष्ठ है । इसी लिये सब के साथ यथा-योग्य वर्तना सामान्य धर्म है । माता आदि की सेवा उस की अपेक्षा विशेष है। तथा सब शास्त्रों का पढ़ना सामान्य से धर्म है उस की अपेक्षा वेद का पढ़ना विशेष प्रशस्त धर्म कहाता है । किसी को कहीं किसी की अपेक्षा से नीचता कही गयी । उन में किसी प्रकार अपने २ प्रसङ्ग में दोनों का धर्म होना सम्भव हो तो

भी जिस की निकृष्टता वा अकर्त्तव्य होना कहते हैं। जिस का करना उस समय भी किसी की अपेक्षा से हानिकारक है उस को अधर्म होना कहते और उस को न करने के लिये भयानक वाक्य भी कहे जाते हैं। और जिस के विशेष प्रबल फल देने वाले होने से उस का होना कर्त्तव्य इष्ट है। उस का धर्म होना कहा जाता है उस में अर्थवादरूप रोचक वचन भी कहे जाते हैं। जिस से उस कृत्य में वह पुरुष प्रवृत्त हो जावे। इस प्रकार रोचक भयानक वचन भी धर्मशास्त्रों में वर्त्तमान हैं और वे सब सार्थक हैं॥

इस पूर्वोक्त कथनानुसार धर्मों की सापेक्ष उत्तमता मध्यमता वा निकृष्टता को जान कर जिस समय जिस का करना कल्याणकारी हो वा जिस की अपेक्षा से जिस का करना अधिक सुख मङ्गलकारी हो उस काम को प्रयत्न के साथ करना ही चाहिये। जैसे सब मान्य पुरुषों की सेवा शुश्रूषा यथायोग्य ठीक२ किसी कारण न हो सके, तो माता पिता और गुरु की सेवा तो अवश्य करनी चाहिये। यदि सब की कर सके तो मातादि की विशेष प्रयत्न के साथ वा प्रथम करनी चाहिये। अर्थात् मातादि की सेवा की अपेक्षा अन्य की सेवा दुःखदायी है माता पिता वा गुरु की सेवा को छोड़ के अन्य की सेवा करने वाला धर्मात्मा नहीं कहावे गा॥

अथ क्रमप्राप्तविषयेषु सृष्टेः पर्यालोचनम्॥

तथा चास्य ग्रन्थस्यारम्भे द्वितीयएव पद्ये जिज्ञासुभिर्ऋषिभिर्मनुः पृष्टो—भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः। अन्तरप्रभवानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि। अस्यैव प्रश्नस्योपरि सर्वस्यास्य धर्मशास्त्रस्य प्रवृत्तिरस्ति। नह्यत्र सर्गव्याख्यानाय कश्चित् प्रश्नोऽस्ति पुनः प्रथमाध्याये किमर्थं सृष्टेर्वर्णनम्?। एवं सत्याम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टइतिवत्प्रमत्तवाक्यमेतदिति प्रतिभाति।

अत्र प्रसङ्गे व्यूलरगौराङ्गेन भणितम्—नहि गौतमीयवासिष्ठादिधर्मशास्त्रेषु मानवधर्मसूत्रेषु वा सृष्टेर्वर्णनमुपलभ्यते। नचेदं सृष्टिप्रक्रियावर्णनं धर्मशास्त्रेण साकं कथमपि सम्बध्यते नहि सृष्टेर्वर्णनं

धर्मो भवितुमर्हति। धर्मशास्त्राणां परिपाट्या च विपरीतम्। तस्मात् सृष्टिप्रकरणरूपः प्रथमाध्यायोऽस्मिन् पुस्तके पश्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्तइति तदाशयः ॥

इमामेवशङ्कां पुरस्कृत्य

"जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम् ।
भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥ १ ॥
आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ २ ॥

इत्येतत्पद्यद्वयं पश्चाद्विनिर्माय द्वितीयपद्यात्र्वे धृतं कैश्चित्, तौ च मुम्बापुर्यां मुद्रिते टीकाषट्कसंयुते पुस्तके द्रष्टव्यौ । अनयोः पद्ययोश्च व्याख्यानं भाष्यकृद्भ्यामाधुनिकतराभ्यां नन्दनरामचन्द्राभ्यां कृतमिति तत्रैव द्रष्टव्यम्। तेनानयोः स्फुटतरं प्रक्षिप्तत्वं प्रतिभाति । यदि च पूर्वतएवेमौ स्यातां तर्हि पुरातनभाष्यकृद्भिर्मेधातिथ्यादिभिरप्यनयोर्व्याख्यानं कृतं भवेत् । तच्च नास्ति तस्मात्पश्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्ताविति निश्चयः । नैवात्र विशेषविचारस्यापेक्षास्ति ॥

अत्र प्रश्नोत्तरयोर्विरोधस्य निवारणाय भाष्यकाराः समादधुस्तेष्वादिमो मेधातिथिरित्थमाह—"शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन सर्वेण प्रतिपाद्यते ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते । तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुनेति । वक्ष्यति च—एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव कर्मणा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनइति । ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्यमित्यध्यायतात्पर्यम् ।" गोविन्दराजश्राह "जगदु-

त्पत्तिस्थितिप्रलयानां धर्माधर्मनिमित्तकत्त्वात्तत्प्रतिपादनार्थत्वेनेदं शास्त्रं महाप्रयोजनतया यत्नतोऽधिगन्तव्यमित्येतदर्थं जगदुत्पादकं प्रकरणमारभ्यते" सर्वज्ञनारायणआह–"अत्र च वर्णक्रमेण धर्मकथनस्याकाङ्क्षितत्वात्सर्वदेवसम्भवतत्त्वोक्तिज्ञानाद् ब्राह्मणादिवर्णानां पूर्वपूर्वश्रैष्ठ्यप्रतिपादनस्येष्टत्वेन मुखादिविशिष्टस्थानोत्पादनेन च तेषां श्रेष्ठत्वात्तदभिधानार्थं शास्त्रप्रणायकब्रह्मोत्पत्तिप्रकारं च कथयितुं स्वस्य निष्पत्तिजननद्वारा तत्पूर्वावस्थां तावदाह" एषां कथनं प्रत्याचक्षाणः कुल्लूकआह–"मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया ब्रह्मप्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम्। आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूपत्वान्मनुनैव धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं शौच० इतिदशविधधर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्।" इत्यादिप्रकारतया कुल्लूकेन बहूक्तम्। "धर्मोपयोगिचातुर्वर्ण्यस्योत्पत्तिक्रमेणैव प्राधान्याप्राधान्यं मुखतो वक्तुं ब्रह्मज्ञानाय सृष्टेराविद्यकत्वं प्रकटयञ्छ्रोतव्यमाह" इत्याहराघवानन्दः। नन्दनरामचन्द्राभ्यामत्र कश्चिदपि विशेषो नोक्तः। मेधातिथिगोविन्दराजयोरस्मिन् समाधानएकएवाशयः। एभिः समाधानैर्व्यूलरसाहवकृतआक्षेपः कथंचिन्निरस्त इतिध्येयं धीमद्भिः। गौतमीयादिधर्मशास्त्रेषु यदि सृष्टेर्वर्णनं नास्ति तेनात्रापि न स्यादित्ययुक्तम्। तानि च धर्मशास्त्राणि न प्रधानानि–इदं च सर्वोपरि प्रधानं प्रधानएव गम्भीराणि प्रबलानि च कृत्यानि भवितुमर्हन्ति सर्वेषु तादृशं महत्वं भवितुमशक्यम्। नायं नियमउपलभ्यते–यदेकत्र न स्यात्तदन्यत्र सन्निन्दार्हं भवेत्। तस्माद्येषु धर्मशास्त्रेषु सृष्टेर्वर्णनं नास्ति तेष्विदमेव न्यूनत्वमिति बोध्यम्। तथा च वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति सर्वार्य्यसम्मतम्। यदि च सृष्टिवर्णनं

धर्मेणासम्बद्धं भवेत्तदा वेदेपि सृष्टेः कथनं स्फुटमुपलभ्यते तदपि धर्मेण सम्बद्धं न स्याच्चेत्सर्वस्य वेदस्य धर्ममूलकत्वं नोपपद्येत। यदा चेदं मानवधर्मशास्त्रमेवप्रधानं तदास्य या परिपाटी सैव धर्मशास्त्राणामिति। अन्यानि चास्यैवाश्रयभूतानि। तस्माद्धर्मशास्त्रस्य प्रारम्भे सृष्टिकथनं युक्ततरमेवेत्यवगन्तव्यम्॥

मेधातिथ्यादिभाष्यकारैर्यथामति यथाविद्यं समाधानानि दत्तानि तानि च कस्मिंश्चिदंशे कथमपि सम्भवन्ति। तेषां निरसने महान्तं प्रयासमकृत्वैव यथामति स्वानुमतिं प्रकाशयामः। यत्किमपि वक्तव्यमुपन्यस्यते तत्र सर्वत्रैव तस्य विषयस्य चतुर्धा विभज्य कथनं कार्यं तथा च क्रियमाणं सुलभं भवति। तथाचोक्तं योगभाष्ये व्यासदेवेन–रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवं सर्वत्र पूर्वं तस्य स्वरूपनिरूपणम्। द्वितीयस्तस्य हेतुर्मूलकारणं यतस्तदुत्पद्यते। तृतीयस्तस्य प्रतियोगी शत्रुरिति यावत्। चतुर्थं तस्य फलम्। अयं च प्रतिकूलवस्तुषु क्रमः। अनुकूलेषु च कारणमुखेन व्याख्यानम्। एवमत्रापि धर्मस्तस्य मूलं कारणं द्वितीयम्। प्रतिकूलोऽधर्मस्तृतीयः। धर्मस्य फलं चतुर्थम्। निर्मूलस्य वस्तुनः शशविषाणवदनृतत्वं न स्यादिति तस्य समूलत्वं साध्यम्। समूलत्वसाधने च धर्मस्य सृष्टेर्वर्णनं प्रस्तुतमेव। प्रतिकूलस्य ह्रासमन्तरेणानुकूलस्य सम्यक् प्रवृत्तिर्भवितुमशक्येति कृत्वा शत्रुभूतस्याधर्मस्य व्याख्यानपुरस्सरं निवृत्तिः कार्यैव। यत्किमपि मनुष्येण क्रियते तत्समूलमेव कार्यम्। धर्मस्य मूलं वेदस्तस्य च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावात्प्रवृत्तिः। धर्मस्याधारा ब्राह्मणादयो वर्णास्ते च परमेश्वरेण धर्मेण सहैव पृथक् २ धर्मप्रवृत्त्यर्थं चोत्पादिताः।

एवमनेकविधतया सर्गेण साकं धर्मस्य मुख्यः सम्बन्धः। सर्गारम्भादेव यस्य धर्मस्य प्रवृत्तिः सएव सनातनो धर्मइति ज्ञापयितुमपि सर्गेण धर्मस्य सम्बन्धो दर्शनीयः। अस्य–जगतस्तिस्रएवावस्थाः सन्ति–उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः। तत्र दशात्रये धर्मस्य स्थितिरुत्तरदात्रा महाप्राज्ञेन मनुना प्रतिपादनीया। नैव महर्षिभिः स्थितिदशायामेव धर्मः पृष्टस्तस्य प्रलयोत्पत्त्योः कथनमात्रात् पृष्टः कोविदारानाछ्रष्टेवद्विरोधः स्यात्। सामान्येन कृतस्य प्रश्नस्यावस्थात्रय एवोत्तरदानं युज्यते तस्मान्नास्ति कश्चिद्विरोधइति। धर्मशब्दश्च द्रव्यजात्यादीनां स्वभावो गुणो वास्ति तस्मात्कस्यां दशायां कस्मिन्देशे काले वा कस्मिन् वस्तुनि कीदृशो गुणः स्वभावो वास्ति तस्य याथार्थ्येन ज्ञानमेव धर्मज्ञानमिति। ज्ञानानुकूलमाचरणं च धर्माचरणमिति। एवं भूतश्च धर्मो नैव कस्यांचिदेव दशायां भवितुमर्हत्यपितु सर्वासु दशासु। इत्थमेव विपरीतज्ञानमधर्मो दुःखहेतुरिति वक्तुमुचितम्। एतदाशयमाश्रित्यैव–अथातो धर्मं व्याख्यास्याम इति वैशेषिककारस्य प्रतिज्ञा सम्बध्यते नहि स्मृतिकारवत्तस्मिन्निबन्धे धर्मस्य व्याख्यानमुपलभ्यते तेन यस्य गुणस्य स्वभावस्य वा धर्मवाच्यत्वं स कार्यकारणद्रव्ये सर्गस्थितिलयदशात्रये तिष्ठत्येव तेन दशात्रयेण साकं तस्य व्याख्यानमुचितं प्रश्नस्य सामान्यदशापरकत्वात्। यश्च प्रलयदशायामुत्पत्तिदशायां वा धर्मो न स्यान्नैव तस्य सनातनत्वं वक्तुं युज्यते। प्रलयदशायां धर्मिणा सह धर्मोऽपि तिरोभूतस्तिष्ठति। उत्पत्तिदशायां सएवाविर्भवति। यश्च कारणे नास्ति तस्य यदि भावः स्यात्तर्हि। शुष्कतिलेभ्योऽपि तैलं निस्सरेत्। तस्माद्दशात्रयेण साकं तादृशरूपेणैव धर्मस्यापि व्याख्यानं

युक्तम् । कीदृशगुणकसामर्थ्यात्कस्य वस्तुन उत्पत्तिरिति ज्ञानमन्तरेण कार्येऽपि गुणरूपधर्मस्य ज्ञानं न जायते । सनातना धर्माः कारणातएवायान्ति तेषामुत्पत्तिप्रकरणेन साकं ज्ञानं सुलभं भवति । यथा मुखतो ब्राह्मणमसृजत्तस्मात्स वर्णेषु मुख्यः । अत्र कारणादेव मुख्यत्वमागतम् । तस्माद्धर्मवर्णनेन साकं सर्गप्रक्रिया व्याख्येया । एतत्कथनेन व्यूलरसाहवस्यापि कथनं प्रत्युक्तं भवति ।

धर्मशब्दस्यार्थश्च यो धार्यते सात्मीक्रियत आकृष्यतेऽनुकूलो मन्यते स धर्मइत्युक्तम् । स च सर्वासूत्पत्तिस्थितिलयदशासु वर्णैः कथं धार्यते इति प्रश्नाशये वर्णिते प्रश्नोत्तरयोः संगतिः ।

व्यूलरसाहवकथनेन राज्यव्यवस्थाकरणमपि धर्मशास्त्रानुकूलं नास्ति। तत्र यदि कश्चित्पृच्छेत्क्षत्रियस्य को धर्मस्तदा किं वक्तव्यम्?। अतो राज्यव्यवस्थापनमेव क्षत्रियधर्मस्तस्य च व्याख्या धर्मशास्त्रे कथं न स्यात् ?।

व्यूलरसाहवस्याशयः केनचिद् विदुषा श्राव्यस्तदा ये मनुष्य जातेरुत्कर्षका अथवा यत्सेवनेन वेदमतानुयायिनामार्याणामुत्कर्षो भवितुं शक्यते तएवास्यां मनुस्मृतौ प्रक्षिप्ता आधुनिकैस्तत्र सज्जिता विषयाइत्येव निस्सरिष्यतीति विचारानुगतैर्ध्येयम् । एतेन किमायाति तदपि ज्ञास्यन्त्येव धीमन्तः ॥

भाषार्थः—अब क्रम प्राप्त छठे सृष्टि प्रकरण की आलोचना करनी चाहिये । इस प्रकरण में कई अंश विचारने योग्य हैं जिनमें पहिला अंश यह है कि इस मानवधर्मशास्त्र में सृष्टि का वर्णन क्यों होना चाहिये ? क्योंकि इस का नाम धर्मशास्त्र है सृष्टि का वर्णन करना कोई धर्म नहीं है । और यही बात अन्य महर्षियों ने मनु जी से पूछी सो इस मनुस्मृति के आरम्भ में द्वितीय श्लोक में ही लिखा है कि "हे मनु जी ! आप सब ब्राह्मणादि वर्णों और वर्णसंकरों

के धर्म कहने योग्य वा समर्थ हैं" केवल इसी एक प्रश्न के ऊपर यह सब धर्मशास्त्र बना है अर्थात् यह मनुस्मृति इसी प्रश्न का उत्तर रूप है तो इसमें सृष्टि की उत्पत्ति कहने का कोई प्रश्न भी नहीं फिर इस प्रथमाध्याय में सृष्टि का वर्णन क्यों किया गया ? और किया गया तो आम पूछने पर कचनार के उत्तर देने के तुल्य प्रमत्तदशा का कथन हो गया । इस प्रसङ्ग में इङ्गलैण्ड निवासी व्यूलर साहब ने कहा है कि गौतम और वसिष्ठ के धर्मशास्त्रों में तथा मानव धर्मसूत्रों में सृष्टि का वर्णन नहीं प्राप्त होता और न यह सृष्टिकी प्रक्रिया का वर्णन धर्मशास्त्र के साथ सम्बन्ध रखता है तथा सृष्टि का व्याख्यान धर्म भी नहीं हो सकता और धर्मशास्त्रों की परिपाटी से भी यह विपरीत है । इस से सृष्टि का प्रकरणरूप प्रथमाध्याय इस पुस्तक में पीछे किन्हीं लोगों ने मिलाया है यह उक्त गौराङ्ग महाशय का आशय है । इसी शङ्का को लेकर दो श्लोक पीछे बनाकर किन्हीं लोगों ने द्वितीय श्लोक के आगे धरे हैं कि "मनुष्य पश्वादि, पक्षी सर्पादि, मक्खी मच्छरादि और वृक्षादि तथा पृथिवी आदि सब भूतों की उत्पत्ति और प्रलय को सब के आचरण और विवादों का निर्णय —राज्यव्यवस्था राजनीति आदि सम्पूर्ण कहो । " ये दोनों श्लोक मुम्बई के छपे छः टीका से युक्त पुस्तक में पाठान्तर बुद्धि से छपे हैं । और इन दोनों का व्याख्यान आधुनिक अति नवीन टीकाकार नन्दन और रामचन्द्र ने किया है । इस से इन दोनों श्लोकों का प्रक्षिप्त होना स्पष्ट प्रतीत होता है । यदि पूर्व से ये श्लोक होते तो पहिले भाष्यकार मेधातिथि आदि भी इन का भाष्य करते वा ऐसी शङ्का न करते कि "क्वास्ताः क्व निपतिताः" सो ये श्लोक वास्तव में इस पुस्तक के नहीं इस से पीछे किसी ने मिलाये यही निश्चय है इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥

इस प्रसङ्ग में जो प्रश्न और उत्तर में विरोध आता है उस को हटाने के लिये भाष्यकारों ने समाधान दिये हैं उन में पहिले मेधातिथि भाष्यकार ने लिखा है कि—"इस सृष्टिप्रक्रिया के वर्णन से इस धर्मशास्त्र का महान् प्रयोजन जताया गया है क्योंकि ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि पर्यन्त धर्म अधर्म ही जिन के निमित्त ऐसी संसार की दशा इस प्रकरण में कही गयी हैं । वैसे कर्म होने से बहुत प्रकार के तमोगुण से ढपे हुए स्थावर योनि में जीव रहते हैं । तथा आगे बारहवें अध्याय में भी कहा है कि 'अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा की इन पूर्वोक्त

दशाओं को विचार पूर्वक देख कर धर्म अधर्म से हठा कर केवल धर्म में मन लगावे, इस प्रकार धर्म में मन के ठहराने से असीम ऐश्वर्य प्राप्ति का हेतु धर्म और इससे विपरीत असीम दरिद्रता का हेतु अधर्म है उन दोनों का स्वरूप जानने के अर्थ महानूफल वाले इस धर्मशास्त्र को पढ़ना चाहिये यह इस प्रथमाध्याय का तात्पर्य है„ इस पीछे गोविन्द राज भाष्यकार ने लिखा है कि "जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय धर्म अधर्म के आधीन है उसके प्रतिपादनार्थ होने से यह शास्त्र महा प्रयोजन वा फल वाला है इस कारण यत्न के साथ पढ़ना चाहिये इस लिये जगत् की उत्पत्ति का प्रकरण प्रथम आरम्भ किया है„ इस के पीछे सर्वज्ञ नारायण ने लिखा है कि "इस धर्म शास्त्र में ब्राह्मणादि वर्णों के क्रम से धर्म का कहना अभीष्ट होने से सम्पूर्ण देवताओं की उत्पत्ति रूप तत्व कथन का ज्ञान होता है उससे ब्राह्मणादि वर्णों में पूर्व २ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इष्ट होने तथा मुखादि विशेष स्थानों से उत्पत्ति होने से वे ब्राह्मणादि श्रेष्ठ हैं उस धर्म को कहने के लिये धर्मशास्त्र कर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति दिखाने को अपनी उत्पत्ति द्वारा जगत् की पूर्व प्रलयावस्था को प्रथम कहते हैं„ इन सब के आशयों का खण्डन करते हुए कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि "ऋषियों के धर्म विषयक प्रश्न में जगत् के कारण होने से ब्रह्म का प्रतिपादन करना भी धर्म का ही कथन है किन्तु प्रकरण विरुद्ध कुछ नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान भी धर्म ही है सो मनु ने ही धैर्य क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म कहने में विद्या शब्द वाच्य आत्मज्ञान को धर्म कहा है„ इत्यादि प्रकार से कुल्लूक भट्ट ने बहुत कुछ लिखा है। राघवानन्द भाष्यकार समाधान कहते हैं कि "धर्म के उपयोगि चार वर्णों की उत्पत्ति के क्रम से प्रधानता वा अप्रधानता मुखादि अवयवों से कहने के लिये ब्रह्मज्ञान होने के अर्थ सृष्टि के जानने की आवश्यकता प्रकट करते हुए श्रोतव्य कहते हैं„ नन्दन और रामचन्द्रों ने इस विषय में कुछ नहीं कहा क्योंकि उनको उक्त दो श्लोक पुस्तक में मिलने से वैसी शङ्का ही न हुई। मेधातिथि और गोविन्दराज का समाधान विषय में एक ही आशय है। इन समाधानों से व्यूलर साहब का किया आक्षेप किसी प्रकार कट जाता है सो बुद्धिमानों को विचारणीय है। और गौतमीयादि धर्मशास्त्रों में यदि सृष्टि का वर्णन नहीं इससे अन्य धर्मशास्त्रों में भी न हो यह अयुक्त है। क्योंकि जो विषय एक पुस्तक में न हो वह अन्य किसी में क्यों न रक्खा जावे ?। क्या एक दो अज्ञानी

वा अपूर्ण विचारशक्ति वाले हों तो सभी वैसे होने चाहिये ?। वे गौतमादि के धर्मशास्त्र प्रधान नहीं किन्तु गौण हैं और यह मानवधर्मशास्त्र सर्वोपरि प्रधान है इस लिये गम्भीर और प्रबल काम प्रधानों में ही हो सकते हैं वैसा महत्त्व सब में नहीं हो सकता । और यह नियम कहीं नहीं मिलता कि जो बात एक स्थल में न हो तो अन्यत्र होने से उसकी निन्दा हो जावे। इस लिये जिन धर्मशास्त्रों में सृष्टि का वर्णन नहीं है उन में यह भी एक प्रकार की न्यूनता है। और समस्त वेद धर्म का मूल है यह सब आर्यों के सम्मत है । यदि सृष्टि के वर्णन का धर्म के साथ सम्बन्ध न हो तो वेद में भी सृष्टि का कथन स्पष्ट है उस का भी धर्म के साथ सम्बन्ध न हो सकने से सब वेद का धर्ममूलक कहना न बने । और जब यह मानवधर्मशास्त्र मुख्य है तो इस की जो परिपाटी है वही धर्म शास्त्रों की जाननी चाहिये । इस से विरुद्ध चलने वाले ही दूषित ठहर सकते हैं। अन्य धर्मशास्त्र इसी के आश्रय भूत हैं। इस से धर्मशास्त्र के प्रारम्भ में सृष्टि का वर्णन करना ठीक ही है ॥

मेधातिथि आदि भाष्यकारों ने अपनी २ बुद्धि विद्या के अनुसार समाधान दिये हैं वे किसी अंश में किसी प्रकार सम्भव हैं। इसलिये उन का खण्डन करने में प्रयत्न न कर के यथाबुद्धि हम भी अपने विचार को प्रकाशित करते हैं—जिन किन्हीं शास्त्रों में जो कुछ जिस किसी कथनीय विषय का प्रस्ताव किया जाता है वहां सभी स्थलों में उस विषय के चार भाग कर के कथन करना चाहिये । वैसा करने से वह सुलभ होता है सो योगभाष्य में व्यासदेव ने कहा भी है कि—१रोग २ रोग का कारण, ३ रोग रहित होना, ४ ओषधि करना । ये चार भेद त्याज्य पक्ष में हैं । इसी प्रकार सब स्थलों में प्रथम उस के स्वरूप का निरूपण करना द्वितीय उस के हेतु मूलकारण वा निदान को बताना कि जिस से वह उत्पन्न हुआ हो । तृतीय उस के प्रतिपक्षी शत्रु को जताना कि जिस से उस की निवृत्ति वा हानि हो सकती है । चतुर्थ उस को प्राप्त होने वा छोड़ देने के परिणाम वा फल को जान लेना । प्रथम जिस को त्यागना वा ग्रहण करना चाहते हैं उस के वास्तविक स्वरूप को जान लेना चाहिये। स्वरूप ज्ञान हुए विना त्याग वा ग्रहण करना कदापि नहीं बन सकता । द्वितीय उस के हेतु मूल उपादान कारण का जानना इस कारण आवश्यक है कि जैसे धातुओं की विषमता से रोग होता है तो उस विषमता के मिटाने का उपाय करना, जब तक विषमता

न मिटेगी तब तक रोग नहीं जा सकता। वा जैसे दीपक जलने का कारण स्नेह वा चिकनाई जान लिया जाय तो उस कारण से दीपक जला सकते और कारण का अभाव कर के दीपक की निवृत्ति भी कर सकते हैं। तृतीय प्रतियोगी शत्रु का ज्ञान इस कारण आवश्यक है कि जैसे रोग का प्रतियोगी औषध वा पथ्य है। वहां अनेक प्रतियोगियों में कौन किस का प्रतियोगी है ऐसा जान लेने से औषधादि प्रतियोगी के प्रयोग से रोगादि की निवृत्ति कर सकता है। चतुर्थ फल जाने विना निष्प्रयोजन वा निष्फल कार्य के करने में रुचि वा प्रीति नहीं हो सकती इस कारण फल का जानाना आवश्यक है। यह सब प्रतिकूल वा त्याज्य वस्तु रोगादि में क्रम है। और अनुकूल में कारण मुख से (अर्थात् प्रथम कक्षा में धर्मादि के कारण को दिखा कर द्वितीय कक्षा में उस के स्वरूप को कहना जैसे प्रथम सृष्टि प्रक्रिया से धर्म का हेतु कह कर आगे स्वरूप कहा है) भी व्याख्यान होता है॥

वैसे यहां मुख्य प्रसङ्ग में देखो—कि मुख्य वस्तु जिस का स्वरूप जानना चाहिये वह धर्म ग्राह्य और अधर्म त्याज्य है। और उस का मूलकारण द्वितीय है। कि जिस से धर्म उत्पन्न होता है उस वेद और परमेश्वर को जानना वही धर्म का भण्डार है और परमेश्वर का वा कार्य जगत् के साथ रहने वाले धर्म का सम्बन्ध दिखाना यही उत्पत्ति प्रक्रिया है। तृतीय धर्म का अधर्म और अधर्म का धर्म प्रतियोगी है। धर्म के फल सुख विशेष वा अधर्म के फल दुःख विशेष का जानना। निर्मूल वस्तु शशविषाण के तुल्य मिथ्या न हो इस लिये उस का समूल होना साध्य है और धर्म के समूल सिद्ध करने में सृष्टि का वर्णन धर्मानुकूल ही है प्रतिकूल नहीं। प्रतिकूल की हानि हुए विना अनुकूल की सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हो सकती ऐसा मान के शत्रुरूप अधर्म का व्याख्यान पूर्वक निवृत्ति करनी अवश्य चाहिये। जो कुछ मनुष्य करता है वह समूल ही करना चाहिये अर्थात् निर्मूल वस्तु वा विषय के जानने का कभी उद्योग न करे। धर्म का मूल वेद है और वेद की नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव परमेश्वर से प्रवृत्ति होती है। धर्म के आधार ब्राह्मणादि वर्ण हैं और उन सब वर्णों को परमेश्वर ने धर्म के साथ ही धर्म की प्रवृत्ति के लिये उत्पन्न किया है। ऐसे अनेक प्रकार होने से धर्म के साथ सृष्टि का मुख्य सम्बन्ध है। और सृष्टि के आरम्भ से ही जिस धर्म की प्रवृत्ति है वही सनातन धर्म है यह जताने को भी सृष्टि के

साथ धर्म का सम्बन्ध दिखाना चाहिये । इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप तीन ही अवस्था हैं उन तीनों दशाओं में सर्वोपरि विचारशील बुद्धिमान् उत्तरदाता मनु जी को धर्म की स्थिति कहनी चाहिये । क्योंकि प्रश्न कर्त्ता महर्षियों ने स्थिति दशा में ही धर्म नहीं पूछा यदि प्रश्न में ऐसा कोई शब्द पड़ा होता कि संसार की वर्त्तमान दशा में धर्म कहो तो उत्पत्ति प्रलय में धर्म का सम्बन्ध दिखाना आम के पूछने में कचनार के उत्तर देने के समान विरुद्ध होता सो तो है नहीं इस कारण सामान्य से किये प्रश्न का तीनों अवस्था में उत्तर देना ही ठीक है इस से कुछ विरोध नहीं है । और धर्मशब्द भी द्रव्य वा जाति वाचकों का गुण वा स्वभाव है जिस से किस दशा, देश,काल वा वस्तु में कैसा गुण वा स्वभाव है उस का यथार्थरूप से जान लेना ही धर्मज्ञान है और ज्ञान के अनुकूल आचरण करना धर्म का आचरण कहाता है । ऐसा धर्म किसी एक ही दशा में नहीं हो सकता किन्तु सब दशाओं में स्वरूप भेद से रहता है । इसी प्रकार विपरीतज्ञान अधर्म दुःख का हेतु है यह कह सकते हैं। इसी पूर्वोक्त आशय को लेकर के ही "हम इस कारण अब धर्म की व्याख्या करेंगे,, यह वैशेषिककार की प्रतिज्ञा बन सकती है क्योंकि मनुस्मृति आदि ग्रन्थकारों के समान उस वैशेषिक ग्रन्थ में धर्म का व्याख्यान नहीं दीख पड़ता है। इस लिये जिस गुण वा स्वभाव का नाम धर्म है वह कार्यरूप वा कारणरूप वस्तु में उत्पत्ति स्थिति वा प्रलय तीनों दशा में अवस्थित अवश्य रहता है । इस कारण प्रश्न के सामान्य दशा परक होने से तीनों दशा के साथ उस का व्याख्यान उचित है और जो प्रलय वा उत्पत्ति दशा में धर्म न रहे उस का सनातन होना नहीं कह सकते । इस लिये सब दशा के साथ धर्म मानना चाहिये ।

प्रलय दशा में धर्मि के साथ धर्म भी दबा हुआ रहता है उत्पत्तिदशा में वही धर्म धर्मी के साथ प्रकट हो जाता है । जो कारणदशा में नहीं है उस का यदि कार्यदशा में भाव माना जावे तो सूखे चिकनाहट रहित तिलों में से भी तेल निकलना चाहिये सो नहीं होता तो धर्म को भी सब दशाओं के साथ अवस्थित मानना चाहिये इस कारण तीनों दशा के साथ दशा के तुल्यरूप से ही धर्म का व्याख्यान होना भी ठीक है । कैसे गुण वाले सामर्थ्य वा कारण से किस वस्तु की उत्पत्ति हुई ? ऐसा ज्ञान हुए विना कार्य में भी गुणरूप धर्म का ठीक२ ज्ञान नहीं हो सकता । और वैसा ज्ञान उत्पत्तिदशा का क्रम पूर्वक वर्णन होने

विना नहीं हो सकता इस कारण धर्म का मर्म ज्ञान होने के लिये सृष्टि का वर्णन पहिले किया गया। तथा सनातन धर्म कारण से ही कार्य में आते हैं उन का उत्पत्ति प्रकरण के साथ सुगमता से ज्ञान हो सकता है। जैसे मुख से ब्राह्मण रचा गया इस लिये वर्णों में ब्राह्मण मुख्य है। यहां कारण से ही मुख्यता आयी है। इस कारण धर्म की व्याख्या के साथ सृष्टि की प्रक्रिया कहनी चाहिये। तथा एक उत्तर यह भी है कि जब कोई किसी वस्तु को पूछ कर जानना चाहे तो उत्तरदाता को उचित होगा कि प्रश्नकर्त्ता की ठीक तृप्ति होने के लिये उस विषय वा वस्तु को मूल वा उत्पत्ति सहित समझा दे जिस से किसी प्रकार का सन्देह शेष न रह जावे। इस कारण धर्म प्रकरण में सृष्टि का भी वर्णन होना उचित है। इस कथन से व्यूलरसाहब का भी उत्तर आगया।

और धर्म शब्द का अर्थ भी जो धारण, आत्मा वा अन्तःकरण से मिलित वा अनुकूल मान के आकर्षण किया जावे वह धर्म कहा गया है वह सब उत्पत्ति स्थिति और प्रलयदशा में वर्णों से किस प्रकार धारण किया जाता है ऐसा प्रश्न का आशय माना जावे तो प्रश्न उत्तर में कुछ भी विरोध नहीं किन्तु मेल है। व्यलरसाहब के कहने से राज्य की व्यवस्था करना भी धर्मशास्त्र के अनुकूल नहीं। तब ऐसी दशा में यदि कोई पूछे कि क्षत्रिय का क्या धर्म है ? तो क्या कहना चाहिये ?। इस से राज्य की व्यवस्था करना क्षत्रिय का धर्म है उस की व्याख्या धर्मशास्त्र में क्यों न हो ?। व्यूलरसाहब का आशय कोई विद्वान् सुने तो यही निकलेगा कि जो मनुष्यजाति की उन्नति के कारण हैं अथवा जिस के सेवन से वेदमत के अनुगामीमात्र आर्य लोगों की उन्नति हो सकती है वे ही विषय इस मनुस्मृति पुस्तक में आधुनिक लोगों ने मिलाये हैं। जैसे राजधर्म को प्रक्षिप्त कहा इत्यादि। इस पर विचारशीलों को ध्यान देना चाहिये कि इस से क्या तत्त्व निकलता है ? सो भी बुद्धिमान् लोग विचार ही लेंगे। अर्थात् भारतवासियों की पुरानीदशा को निकृष्ट कहना। वर्त्तमान में तो प्रत्यक्ष हीन दशा में हैं। अर्थात् उन को आर्यों की उच्चदशा कदापि अभीष्ट नहीं। इस से अनेक राजनैतिक लोग गूढ़ प्रयोजनसिद्धियां मानते हैं॥

सृष्टिप्रक्रियायां वेदादिग्रन्थेषु केचित्परस्परं विरोधं वदन्ति तस्य निवारणाय सर्वेषां वचसामत्र संग्रहो दुर्लभः। तथासति विस्तरश्च

महान् भवेदिति ज्ञात्वा समासेनेदमुच्यते—वेदादिषु कुत्रचिद्विषयवर्णने शब्दानामेव भेदेन केषांचिद्भ्रमो जायतेऽत्र विरोधोऽस्तीति वस्तुतस्तत्र विरोधो नास्ति। एकमेव विषयं नानावक्तारः स्वस्वकथनशैलीं पुरस्कृत्यैव कथयन्ति नास्ति तत्र विदुषां सारांशविदां मनीषासु विरोधः। अज्ञास्तु परस्परं सदैव विरुध्यन्ते तेषां विरोधेन नास्ति काचिद्धानिरिति। यथा सर्वत्र सृष्टिप्रक्रियायां सर्गारम्भात्पूर्वं प्रलयदशायाश्चान्ते उक्तम्। सएक्षत बहुस्यां प्रजायेय। कुत्रचित् प्रश्नोपनिषदि—स तपोऽतप्यत। मनुस्मृतौ—सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। इत्यादिवचनानामेकएवाशयः। तथाप्रश्नोपनिषदि—स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेति। तथा च मनुस्मृतौ—द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी तस्यां विराजमसृजत्प्रभुः। इत्येतयोरेकएवाशयः। कथने च कथंचिद्वैपरीत्यमुपलभ्यते। लोकेप्येकाशयकमविरुद्धमेवैकविषयं व्याख्यातृभेदाद्भिन्नमिव प्रतियन्ति तथैव शास्त्रेषु वास्तविको विरोधो नास्ति।

सृष्टिप्रक्रियायां वेदानां यः सिद्धान्तः सएवास्मिन् मानवधर्मशास्त्रेऽपि बोद्धव्यः। वेदेषु यत्र२ सृष्टेर्वर्णनं तत्र २ सर्वत्र पूर्वं प्रलयदशायाः स्वरूपं दर्शितम्—। यथा ऋग्वेदे अ० ८ अ० ७ व० १७ मं० ३ उक्तम्—तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्॥ इत्यादिमन्त्राणामेवाशयमाकृष्य वाक्यभेदेन मनुनाप्युक्तम्—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ महिना जायतैकमित्यस्य मन्त्रवाक्यस्याशयो—महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः। इत्यादिप्रकारेण वेदानुकूलमेवात्र सृष्टेर्वर्णनमिति॥

न्यायमीमांसासांख्यादिषु कुत्र २ चित्सृष्टेर्वर्णनमितरेतरं विरुद्धमिव भासते तत्रापि तत्त्वतो विरोधो नास्ति तत्रैकैकस्मिन्स्वस्वाभीष्टकारणस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम्। तानि च सर्वशास्त्रेषु स्वीकृतानि सर्वाणि कारणानि सृष्टिप्रक्रियायामुपयुक्तानि भवन्ति। कालकर्मोपादाननिमित्तानामेव मुख्यतया कारणत्वेन शास्त्रेषु प्राधान्यं प्रदर्शितम्। एषामेव वेदेष्वपि प्राधान्यमुपलभ्यते-तथाचोक्तमथर्ववेदे। काण्डे १९ वर्गः ५३। ५४। कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥१०॥ कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः। कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥ १ ॥ इत्यादयोऽनेकशो मन्त्राः कालमेव सर्गकारणं वर्णयन्ति तदाश्रयेणैव शास्त्रकारैः कालस्य महत्त्वं वर्णितम्। वस्तुतस्तु सर्गस्थितिलयेषु कालएव प्रथमं कारणम्। नहि कदाप्यर्द्धरात्रे सूर्यउदेति मध्यान्हे वाऽस्तमेति। एवमनियते सृष्टिरपि नोत्पद्यते। काले सर्वमुत्पद्यते काले विनश्यति काले स्थितिमेति। काले वृक्षाः फलन्ति। काले वर्षति पर्जन्यः। एवं कालेनैव सर्वं जायते। अतएवोक्तम्-कालः प्रजा असृजनेति-प्रलयानन्तरं यदोत्पत्तेः समयआयाति तदैव परमेश्वरोपि जगद्रचयति। प्रलयदशायां सर्गं कर्त्तुमीश्वरोऽप्यशक्तः। अत एवोक्तम्-कालोअग्रे प्रजापतिम्। अर्थात्कालएव परमेश्वरं सृष्टिकरणाय प्रेरयति। यथा च प्रातःकाले सूर्योदयो मनुष्यान्प्रेर्य निद्रात उत्थापयति उद्योगं कारयति। कश्यपः सर्वस्य दर्शकः सर्वज्ञः सर्वाधारः सर्वस्थितिहेतुः सर्वरक्षकः सर्वसाक्षी परमेश्वरः कस्यचिन्मनुष्यस्य सहायतामन्तरेण सर्गायोद्योगं करोति। तस्मात्स्वयम्भूरित्युच्यते। स एवंभूतोपि कालप्रेरणयैव स्वाभा-

विकशक्त्या सर्वं करोति। तपः सृष्टिकरणस्य ज्ञानमपि कालादेवाजायत। इदमित्थं मया कर्त्तव्यमिति। मनुष्योऽपि मानुषीं सृष्टिं कालादेव कर्त्तुं जानाति। एवम्भूतस्य कालस्य प्राधान्यं वैशेषिकशास्त्रेऽस्ति॥

तथा कर्मादीनामपि सर्गकारणकत्वप्रतिपादिका वेदे बहवो मन्त्राः सन्ति तेषामन्वेषणेन सङ्ग्रहः कार्यः। कर्मणः प्राधान्यं मीमांसायां न्याये चास्ति। सांख्ये उपादानस्य वेदान्ते च निमित्तकारणस्य व्याख्यानं कृतमस्ति। तानि च स्वस्वावसरे सर्वाणि प्रधानानि। तस्मान्नास्ति तेषु विरोधः॥

परमेश्वरस्य यानि कर्माणि विद्वद्भिः स्वीक्रियन्ते नैव तानि मनुष्यवत्तेन क्रियन्ते किन्तु सूर्योदयानन्तरं बहूनि कार्याणि सूर्यादेव निमित्ताद्भवन्ति सति सूर्ये तेषां तादृशभावोऽसति च तथाऽभावएव सूर्यस्य निमित्तकारणत्वं द्योतयति। तथैव परमात्मनि प्रादुर्भूते सृष्टिरुत्पद्यते नैव स कुलालवद्धस्तेन कार्यं करोति। एतमेवाशयमङ्गीकृत्य केचित्सर्गक्रियायां परमात्मन उपयोगं नापेक्षन्ते तेषां च भ्रान्तिरेव। नैव ते सृष्टिप्रक्रियायां निमित्तकारणमन्तरेण प्रतिपादयितुं शक्ताः। नहि जडवस्तूनां संयोगमात्रेणेक्षणपूर्विका सृष्टिर्भवितुमर्हति तस्माच्छ्रौतस्मार्त्तसिद्धान्तेन सर्वज्ञचेतनकर्त्तृका सृष्टिरिति सर्वशिष्टविद्वत्सम्मतमनुसरणीयम्।

तत्रावान्तरप्रलयेषु या सृष्टिरुत्पद्यते यस्या अत्र वर्णनं नास्त्यपि तु ब्राह्मकल्पस्येदं वर्णनम्। अवान्तरप्रलया ब्रह्मणएकएव दिने कतिचिद्भवन्ति तेषु भूतसृष्टेः सर्वथा प्रलयो न भवति। केषुकेषुचिन्निबन्धेष्ववान्तरप्रलयानन्तरं सृष्टेर्वर्णनमस्ति तेन सार्द्धमस्या ब्राह्मदिनसृष्टेर्विरोधः स्यात्स तु विरोधो नावधार्यो विषयभेदात्।

एकस्मिन्नेव विषये विरोधस्य सत्त्वात्। तेषां च प्रलयसर्गभेदानामत्र व्याख्यावसरो नास्ति। अत्र तु—अस्मिन्वर्त्तमाने ब्राह्मदिवसे कथं सृष्टिरभूदिति विचार्यते॥

तत्रान्यभाष्यकाराणामयं सिद्धान्तः—प्रलयो द्विविधः—महाप्रलयोऽवान्तरप्रलयश्च। महाप्रलये ब्रह्मापि प्रलीयते तदानीं तस्यायुषः पूर्णत्वात्। अवान्तरप्रलयेषु स एव ब्रह्मा तिष्ठति स्वपिति वा। महाप्रलयानन्तरं सृष्टेर्वर्णने ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिर्वक्तव्या भवति। स स्वदिवसैर्नियतानि शतं वर्षाणि जीवति। सएव महाप्रलयान्तउत्पद्यावान्तरप्रलयेषु च प्रतिबुध्य सृष्टिं करोति। इत्यादिप्रकारेण शरीरधारिणोऽसम्भूतमायुः स्वीकुर्वन्ति। अत्रोच्यते—नहि कस्यचिच्छरीरधारिण एतावदायुः सम्भवति। संयोगजन्यत्वात्। शतायुः पुरुषः। पश्येम शरदः शतमित्यादिना वेदेप्युक्तत्वात्। शवतर्षादधिकमपि—भूयश्च शरदः शतादिति वेदप्रमाणानुसारमायुः सम्भवति। तथापि कोटिगुणमधिकं न सम्भवति। संयोगजन्यस्य वस्तुन एतादृशोऽवधिः स्यादिति को मतिमानङ्गी करिष्यति?। तथा परिच्छिन्नः संयोगजन्यो मनुष्योऽचिन्त्यशक्तिरनन्तशक्तिर्वापि भवितुं नार्हति सर्वशक्तिसम्पन्नः परमेश्वरः स्वसदृशस्यान्यस्योत्पादनं कुर्याद्यदि स्वयं तथा जगद्रचयितुमशक्तः स्यात्। एवंचेत्सर्वशक्तित्वं नोपपद्येत। अनेकेश्वरवादरूपो दोषश्चैषां मते प्रसज्यते प्रयोजनमपि नोपलभामहे यद्भूतसर्गाय कंचिद्देहविशेषं पुरुषविशेषं वा परमात्मा निरमिमीत। तस्मान्नायं पक्षः साधुः। केचिदत्र मेधातिथ्यादयो भाष्यकाराः प्रचरितसांख्यमतानुसारमत्र सृष्टिं वर्णयन्ति केचित्कुल्लूकभट्टादयश्चाधुनिकवेदान्तमतं परमात्मन एवोपादानकारणवाद

मूरीकृत्य सृष्टिप्रक्रियां वर्णयन्ति तत्र च परस्परं विरोधमभि मन्यन्ते स च तेषां भ्रम एव। नास्ति सांख्यवेदान्तयोः सृष्टौ मत-भेदः। उपादानं चास्य जड़मेव भवितुमर्हति। नहि कार्यकारणयोर्वैरूप्यं कथमप्युपपादयितुं युक्तम्। सांख्येऽपि नहि कश्चित्परमात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रा जडभूता प्रकृतिरीक्षणपूर्विकां सृष्टिं निर्मातुं शक्नोति। तस्मादविरोधएव न्याय्यः। निमित्तोपादानकारणयोश्च तत्र२ प्राधान्यवर्णनेन भ्रान्तिर्जातेति सम्भाव्यते। सर्गारम्भे परमेश्वरः सृष्टिकरणप्रकारमालोचयति। इदमेवेक्षणमिदमेव तपोऽयमेव प्रादुर्भावः। इदमेव तस्य प्राकट्यम्। एतेनैव स स्वयम्भूरित्युच्यते। नैतैर्वाक्यसमूहैरन्यस्य देहधारिणः कस्य चिदुत्पत्तिरवगन्तव्या। एतेनैक एव परमेश्वरोऽस्याः सृष्टेर्निमित्तकारणभूतइत्युक्तं भवति। वादाश्च प्रवर्त्तन्तएव ॥

भाषार्थः—सृष्टिप्रक्रिया में कोई लोग वेदादि ग्रन्थों का परस्पर विरोध कहते हैं उस की निवृत्ति के लिये सब वचनों का यहां संग्रह तो हो नहीं सकता। और वैसा करने से लेख भी अत्यन्त बढ़ जाना सम्भव है ऐसा विचार के संक्षेप से लिखते हैं—वेदादिग्रन्थों में कहीं २ सृष्टि आदि विषयों का वर्णन शब्दों के भेद से किया गया है अर्थात् जिस विषय के लिये एक पुस्तक में जैसे शब्द हैं उस से भिन्न द्वितीय पुस्तक में लिखे गये तब किन्हीं को भ्रम हो जाता है कि इस में विरोध है। और सब पुस्तकों का लेख एक प्रकार के शब्दों में हो नहीं सकता क्योंकि देशकाल वस्तु भेद से भेद हो जाता है और अनेक कर्त्ताओं के होने से भी उन२ की शैली अलग२ होती है परन्तु विचारशील लोग जब उस के मुख्य सिद्धान्त पर ध्यान देते हैं तो उस मूल सिद्धान्त में कुछ भेद नहीं जान पड़ता किन्तु अज्ञानियों की बुद्धि में परस्पर विरोध बना रहता है उस का कारण अज्ञान है। इस में वेदादि शास्त्रों का कुछ दोष नहीं और इस अज्ञानियों के भेद से संसार की कुछ हानि भी नहीं हो सकती ॥

तथा अन्य वेदादिग्रन्थों में जहां२ सृष्टि का प्रकरण है वहां२ रचना के वर्णन से पूर्व और प्रलयदशा के अन्त में कहा है कि "उस ने विचार किया कि मैं अनेकरूप सृष्टि करूं" तथा प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि "संसार की रचना से पहिले उस ने तप किया" यहां तपशब्द से भी सृष्टि–रचना के अनुसन्धान करने से तात्पर्य है क्योंकि परमेश्वर के सम्बन्ध में तपशब्द का अर्थ ज्ञान ही लिया गया है। सो ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि "यस्य ज्ञान-मयन्तपः" जिस का तप ज्ञान है। यही अंश यहां मनुस्मृति में भी लिखा है कि "उस ने अपने सामर्थ्य से अनेक प्रकार की प्रजा रचने की इच्छा से विचार कर के प्रथम प्राण अर्थात् सूत्रात्मा वायु को रचा" सृष्टि विषयक इत्यादि सभी वचनों का एकही आशय है॥

तथा प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि "उस ने तप अर्थात् सत् असत् अच्छे बुरे की प्रमाण वा कारण के अनुसार समीक्षा कर के दो वस्तुओं को अर्थात् प्रथम दो प्रकार की शक्ति को उत्पन्न किया" जिन में एक का नाम रयि और दूसरे का प्राण नाम रक्खा। इन्हीं दोनों का स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति शब्दों से भी व्यवहार करते हैं। कहीं इन्हीं को सूर्य चन्द्रमा नामों से कहा है क्योंकि चन्द्रमा में स्त्रीशक्ति की और सूर्य में पुरुषशक्ति की प्रधानता वा उत्तेजकता है इन्हीं दोनों को भोग्य भोक्ता वा प्रकृति पुरुष नामों से भी कोई लोग कहते हैं। इस प्रकार इन दो शक्तियों का अनेक नामों से व्यवहार किया गया है। यही अंश मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि "उस परमेश्वर ने प्रारम्भ में अपने सत्वादि गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति नामक एक (जिस में अनिर्वाच्य होने से द्वित्वादि नहींकहा जा सकता) सामर्थ्य के दो खण्ड किये जिस के अर्द्धभाग में पुरुष और आधे भाग में स्त्री हुई। उस स्त्री में विराट नाम ब्रह्माण्ड के प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न किया। अर्थात् प्रलय के पश्चात् स्त्री पुरुष के संयोग के विना भी जितना जगत्–प्राणी उत्पन्न हुए वा जो कुछ जड़ वस्तु उत्पन्न हो कर दृष्टिगोचर हुए उन सब की उत्पत्ति स्त्रीपुरुषरूप दो शक्ति के मेल से हुई है। क्योंकि सब प्राणी और भूतों की उत्पत्ति से पहिले दो शक्तियों की उत्पत्ति दिखाने का यही तात्पर्य है। अनुमान होता है कि इसी आशय को लेकर किन्हीं लोगों ने प्रारम्भ में एक स्त्री वा एक पुरुष को उत्पन्न किया माना है उसी आदि पुरुष शक्ति को ब्रह्मा, स्त्रीशक्ति को सरस्वती। वा महादेव पार्वती

(आदम,हव्वा) आदि नाम रक्खे गये। सम्भव है कि शक्ति की सौकर्यातिशय विवक्षा में स्वतन्त्रकर्त्ता की अविवक्षा कर देने से शक्ति का प्रयोग शक्तिमान् के स्थान पर मान लिया गया जिस से अनेक असम्भव पौराणिक कथा बन गईं। यहां प्रश्नोपनिषद् और मनुस्मृति का एक ही आशय है। केवल दोनों के कथन में किसी प्रकार कुछ भेद मात्र प्रतीत होता है। लोक में भी एक आशय वाले अविरुद्ध एक विषय को व्याख्यान कर्त्ताओं के भेद से भिन्न जैसा मान लेते हैं। वैसे ही सृष्टि में शास्त्रों का वास्तविक विरोध नहीं है॥

सृष्टि प्रक्रिया में वेदों का जो सिद्धान्त है वही इस मानवधर्मशास्त्र में भी समझना चाहिये। वेदों में जहां २ सृष्टि का वर्णन है वहां २ सर्वत्र वा प्रायः प्रथम प्रलय दशा का स्वरूप दिखाया गया है। जैसे ऋग्वेद अ० ८। अ० ७ व० १७। मं० ३ में लिखा है कि उत्पत्ति से पहिले अन्धकार से आच्छादित जगत् का कारण था। इत्यादि प्रकार के मूल वेद मन्त्रस्थ आशय को ले कर के ही वाक्य भेद से मनु जी ने भी लिखा है कि यह सब जगत् अन्धकार रूप अज्ञात–किसी प्रकार के चिन्ह से रहित सब ओर से सोया जैसा था। तथा उक्त मन्त्र के (महिना जायतैकम्) वाक्य का आशय भी मनुस्मृति के इसी प्रथमाध्याय में वर्णन किया गया है इत्यादि प्रकार वेदानुकूल ही यहां सृष्टि का वर्णन है॥

न्यायमीमांसा और सांख्यादि शास्त्रों में कहीं २ सृष्टि का वर्णन परस्पर विरुद्ध जैसा प्रतीत होता है। वहां भी वास्तविक विरोध नहीं उस एक २ में अपने २ अभीष्ट व्याख्येय कारण की प्रधानता दिखायी है। वे सब शास्त्रों में माने हुए सब कारण सृष्टि प्रक्रिया में उपयोगी होते हैं। काल, कर्म उपादान और निमित्त शब्द वाच्यों की ही मुख्य कर शास्त्रों में कारण बुद्धि से प्रधानता दिखायी है। इन्हीं कालादि सृष्टि के कारणों की वेद में भी मुख्यता दीखती है। सो अथर्व वेद में भी (कालः प्रजा०) इत्यादि अनेक मन्त्र काल को ही सृष्टि का कारण कहते हैं कि काल से ही सृष्टि हुई। इसी प्रकार के मन्त्रों का आश्रय लेकर शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से काल की महिमा का वर्णन किया है। और ठीक२ तो यह है कि उत्पत्ति स्थिति प्रलयों में काल ही प्रथम कारण है क्योंकि कभी आधी रात में सूर्य का उदय नहीं हो सकता अथवा न मध्यान्ह में अस्त हो सकता है। इसी प्रकार अनियत समय में सृष्टि भी उत्पन्न नहीं हो सकती किन्तु अपने २ समय में सब उत्पन्न होते समय आने पर नष्ट होते और

अपने समय में सब वस्तु स्थिर रहता है। समय पर वृक्ष फूलते फलते समय पर मेघ वर्षता है। इसी प्रकार सब पदार्थ अपने२ समयपर उत्पन्न होते हैं। इसी लिये कहा गया कि काल प्रजाओं को उत्पन्न करता है। अर्थात् प्रलय के पश्चात् जब उत्पत्ति का समय आता है तभी परमेश्वर भी जगत् को रचता है किन्तु समय के नियम को परमेश्वर भी नहीं तोड़ता वा तोड़ सकता। तात्पर्य यह कि प्रलय दशा के भीतर परमेश्वर भी सृष्टि रचने में असमर्थ है। इसी लिये कहा है कि काल ने ही प्रथम सृष्टि होने से पूर्व परमेश्वर को सृष्टि रचने के लिये प्रेरित किया। जैसे प्रातःकाल में सूर्य का उदय होना मनुष्यों को प्रेरणा कर निद्रा से उठाता वा उद्योग कराता है। तथा कश्यपनाम सब को दिखाने वाला, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सब की स्थिति का हेतु सर्वरक्षक सर्वसाक्षी परमेश्वर किसी मनुष्य की सहायता के विना रचना का उद्योग करता है। इसी लिये उस को स्वयम्भू कहते हैं। वह परमेश्वर ऐसा होने पर भी काल की प्रेरणा से ही स्वाभाविकशक्ति के साथ सब करता है। तप नाम सृष्टि रचना का ज्ञान भी काल से ही होता है कि यह काम मुझ को इस प्रकार करना चाहिये। मनुष्य भी अपने शरीर से हो सकने वाली प्रत्येक रचना को काल से ही जानता है कि अमुक काम का समय आगया वह अब करना चाहिये। काल से ही जल वा प्राण उत्पन्न हुए। वेद ज्ञान और दिशा भी काल से ही उत्पन्न होती हैं काल से सूर्य का उदय और अस्त होता है। यह सब अथर्ववेद के मन्त्रों का आशय है। इसी प्रकार काल की प्रधानता वैशेषिकशास्त्र में भी विशेष कर कही है॥

तथा वेद में कर्मादि को भी सृष्टि के कारण ठहराने वाले बहुत मन्त्र हैं उन का संग्रह खोजने से हो सकता है। कर्म की प्रधानता मीमांसा और न्याय में कही है। सांख्यशास्त्र में जगत् के उपादान कारण का और वेदान्त ब्रह्मसूत्रों में जगत् के निमित्त कारण का विशेषकर व्याख्यान किया है। वे अपने२ अवसर पर सब प्रधान हैं। इस लिये सृष्टिमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है॥

विद्वानों ने परमेश्वर के जो काम स्वीकार किये हैं उन को वह मनुष्य के तुल्य नहीं करता किन्तु जैसे सूर्य के उदय होने पश्चात् बहुत कार्य सूर्य के निमित्त मात्र वर्त्तमान रहने से होते हैं। सूर्य के होने पर उन कार्यों का वैसा होना और न होने पर वैसा न होना ही सूर्य का निमित्त कारण होना जताता है। वैसे ही परमेश्वर के प्रकट होने पर सृष्टि उत्पन्न होती है (जैसे कि

स्वामी के उपस्थित सन्मुख रहने पर सेवक लोग अपना २ काम यथावत् करते हैं स्वामी को कुछ कहने तक की आवश्यकता नहीं होती। पर वह चाहता है कि ये सेवक जन ऐसा करें और सेवक भी चाहते हैं कि हम स्वामी की इच्छानुसार करें) किन्तु वह कुम्हार के तुल्य हाथ से काम नहीं करता। इसी आशय को ले कर कोई लोग सृष्टि करने में परमेश्वर की अपेक्षा नहीं समझते उनको यह भ्रान्ति ही है। क्योंकि निमित्त कारण के विना वे लोग सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन नहीं कर सकते। अर्थात् जड़ वस्तुओं के संयोग मात्र से ईक्षण पूर्वक सृष्टि नहीं हो सकती इस लिये श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार सर्वज्ञ चेतन कोई इस जगत् का कर्त्ता है ऐसा सब शिष्ट विद्वानों का सम्मत हम को भी मान्य है॥

उन अवान्तर प्रलयों में जिस प्रकार वा जो सृष्टि उत्पन्न होती है उसका यहां वर्णन नहीं है किन्तु ब्राह्म कल्प में होने वाली सृष्टि का वर्णन है। और अवान्तर प्रलय ब्रह्म के एक ही दिन में (प्रत्येक मन्वन्तर के आदि अन्त में जैसा कि सूर्यसिद्धान्त में विशेष कर वर्णन किया गया है) कई वार होते हैं उन में भूत सृष्टि का सर्वथा प्रलय नहीं होता किन्तु प्रायः प्राणियों का प्रलय होता है। किन्हीं २ ग्रन्थों में अवान्तर प्रलय के पश्चात् सृष्टि का वर्णन है उसके साथ इस ब्राह्मदिन की सृष्टि का कुछ विरोध हो तो वह विरोध नहीं जानना चाहिये क्योंकि उन दोनों सृष्टियों में देश कालादि के भेद से विषय में भेद हो गया और विषय भेद में विरोध होता नहीं किन्तु एक ही विषय में विरोध होता है। उन प्रलय और सृष्टि के भेदों के व्याख्यान का यहां अवसर नहीं किन्तु यहां तो इस वर्त्तमान ब्राह्मदिन के प्रारम्भ में कैसे सृष्टि हुई ऐसा विचार किया जाता है॥

उस में अन्य भाष्यकारों का यह सिद्धान्त है कि प्रलय दो प्रकार का है एक महाप्रलय और द्वितीय अवान्तर प्रलय। महाप्रलय में ब्रह्मा भी नहीं रहता क्योंकि महाप्रलय का समय आते तक ब्रह्मा की आयु भी पूर्ण हो जाती है और अवान्तर प्रलयों में वही एक ब्रह्मा स्थित रहता वा सोता है। महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि का वर्णन करने में ब्रह्मा की भी उत्पत्ति कहनी पड़ती है। सो यहां मनुस्मृति के सृष्टि प्रकरण में ब्रह्मा की उत्पत्ति मानते हैं इस से महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि का वर्णन मनुस्मृति में बतलाना बनता है। ऐसा माना जावे तो इन लोगों के कथनानुसार ब्राह्म महाकल्प का यह प्रथम दिन हुआ और

इस हिसाब से ब्रह्मा अभी एक दिन का नहीं हुआ। परन्तु प्रचरित पञ्चाङ्ग और सङ्कल्प की प्रक्रिया से यह कथन विरुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि पञ्चाङ्गों के लेखानुसार सङ्कल्प में भी यह पढ़ा जाता है:—

"समस्तजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणस्य कमलासनस्य स्वमानेन परमायुर्वर्षशतं तस्यार्द्धं ५० गतमथ ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे प्रथमवर्षे प्रथममासे प्रथमपक्षे प्रथमदिवसे द्वितीययामे—इत्यादि पञ्चाङ्गेषु दृश्यते"

इस का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करने वाले ब्रह्मा की अपने दिन आदि के परिमाण से सौ वर्ष की अवस्था है उस का आधा ५० वर्ष बीत गया अब ब्रह्मा के द्वितीय उत्तरार्द्ध के प्रथम वर्ष के प्रथम मास के प्रथम पक्ष के प्रथम दिन में यह द्वितीय प्रहर है इत्यादि। पाठकों को इस से स्पष्ट विरोध प्रतीत हो जायगा। और परस्पर विरुद्ध पक्ष कदापि ठीक नहीं होते यह विद्वानों का सिद्धान्त है। और वह ब्रह्मा अपने वर्षों से नियत सौ वर्ष जीवता है। वही महाप्रलय के अन्त में फिर उत्पन्न हो कर और अवान्तर प्रलयों में जाग२ कर सृष्टि रचता है। इत्यादि प्रकार शरीरधारी की असम्भव आयु स्वीकार करते हैं॥

इस का उत्तर यह है कि किसी शरीरधारी की इतनी अवस्था हो नहीं सकती क्योंकि अन्य प्राणियों के तुल्य उस का शरीर भी मट्टी आदि के परमाणुओं से मिल कर बना है। वे संयोगी पदार्थ कोई ऐसे नहीं जो अर्वों वर्ष चले जावें। सौ वर्ष की अवस्था वाला पुरुष है वा मैं सौ वर्ष तक देखूं इत्यादि प्रकार वेद में भी कहा है जिस से सिद्ध है कि मनुष्य का आयुः सौ वर्ष का है। और सौ शब्द से दैव वा ब्राह्म कोई सौ वर्ष लिये जावें सो नहीं किन्तु मानुष ही लिये जावें गे क्योंकि वेदसम्बन्धी सब ही नियम वा आज्ञा मनुष्य पर ही घटती हैं। कोई कहे कि वेद में तो (भूयश्च शरदः शतात्) इस प्रमाण के अनुसार अधिक भी आयु हो सकती है। तो भी कोटिगुण अधिक नहीं हो सकती। संयोग से उत्पन्न होने वाले वस्तु की ऐसी अवधि हो यह कौन बुद्धिमान् मान लेगा ?॥

तथा संयोग से उत्पन्न हुआ परिच्छिन्न—जिस की लम्बाई चौड़ाई आदि की अवधि है ऐसा मनुष्य अचिन्त्यशक्ति से युक्त और अनन्तशक्ति नहीं हो

सकता । सर्वशक्तिमान् परमेश्वर यदि अपने तुल्य अन्य ब्रह्मा को उत्पन्न करे तो जानो वह स्वयं जगत् को नहीं बना सकता । और जब जगत् को नहीं रच सकता तो उस का सर्वशक्तिमान् होना भी सिद्ध होना दुस्तर है । और ऐसा मानने से अनेक ईश्वर माननेरूप दोष भी उन के मत में आता है । और हम को ऐसा कोई प्रयोजन भी नहीं जान पड़ता कि जो प्राणियों की रचना के लिये किसी देहधारी पुरुष विशेष ब्रह्मादि को परमेश्वर बनावे । तिस से यह यह पक्ष श्रेष्ठ नहीं है ॥

कोई मेधातिथि आदि भाष्यकार इस प्रसङ्ग में प्रचरित सांख्य के मतानुसार सृष्टि का वर्णन करते हैं तथा इस मनुस्मृति के सृष्टि प्रकरण में कोई कुल्लूक भट्ट आदि परमेश्वर ही जगत् का उपादानकारण है ऐसे आधुनिक वेदान्त मत को स्वीकार कर के सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन करते हैं । और वेदान्त तथा सांख्य के सिद्धान्त में परस्पर विरोध मानते हैं वह उन लोगों का केवल भ्रममात्र है किन्तु सांख्य वेदान्त में सृष्टिप्रक्रिया में मत भेद नहीं है । इस कार्य जगत् का उपादानकारण जड़ कारण ही हो सकता है । कार्य कारण की विरूपता वा विरुद्धता किसी प्रकार सिद्ध करना ठीक नहीं हो सकता । अर्थात् वेदान्त का यह सिद्धान्त नहीं है कि जगत् का उपादानकारण चेतन आत्मा है । और सांख्य में भी किसी परमात्मा के विना स्वतन्त्र जड़ स्वरूप प्रकृति विचार पूर्वक होने वाली सृष्टि को नहीं बना सकती इस लिये दोनों का विरोध न होना ही ठीक है । वेदान्त में निमित्त कारण का तथा सांख्य में उपादान का प्रधानता के साथ वर्णन होने से लोगों को भ्रान्ति हो गई होगी कि सांख्यवादी तो केवल प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं और वेदान्त में भी ब्रह्म को ही कारण माना है ऐसा अनुमान से भ्रम होना सम्भव जान पड़ता है । सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर सृष्टि बनाने के पूर्वकल्प सम्बन्धी प्रकार को शोचता है इसी का नाम ईक्षण इसी का नाम तप और यही उस का प्रादुर्भाव है यही उस की प्रकटता है और इसी से वह स्वयम्भू कहाता है । इन वाक्यों से अन्य किसी देहधारी की उत्पत्ति होती हो ऐसा विचार न करना चाहिये । इस सब कथन से एक ही परमेश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारणरूप है यह कथन सिद्ध होता है वादविवाद तो बने ही रहते हैं ॥

तथा सृष्टौ भेदद्वयमेव विचारशीलैः प्रत्येतव्यम् । एका तु मानवी वा मानसी यद्वा—ऐश्वरी सृष्टिः । द्वितीया मैथुनी वा

मानुषी सृष्टिः । तत्र पूर्वा सृष्टिः कल्पारम्भएव जायते द्वितीया तु तदनन्तरमाजगतः स्थितिदशायाः प्रत्यहं प्रतिक्षणं च जायते । तत्र स्थूलकारणापेक्षां विहाय मनुना मननशक्तिं समाश्रित्य प्रलयानन्तरं सर्गारम्भे कृता सृष्टिर्मानवीत्युच्यते । मनसा विचारेणैव कृता नतु स्थूलशरीराश्रितकर्मणा सा मानसी । सर्वशक्तिमानीश्वरएव तां कर्तुं शक्नोति नैव कश्चित्साधारण इत्यैश्वरी सा च स्त्रीपुरुषयोः संयोगमन्तरेण प्राणिनां परमसूक्ष्मकारणात्पृथिव्यादिमहाभूतानां स्थूलबीजमन्तरेण वृक्षौषधिवनस्पत्यादीनामुत्पत्तिः । एवंभूता यां कश्चिद्देहधारी मनुष्यः कर्तुं न शक्नोति सैवैश्वरी सृष्टिः। यदा च तेन स्त्रीपुरुषबीजवृक्षादय आदावुत्पाद्यानन्तरमेवं सर्वैः सृष्टिपरम्परा चालनीयेति वेदद्वारोपदिष्टं तदारभ्य मनुष्यैस्तथैव सृष्टिः क्रियते । पुत्रादीनामुत्पत्तिं वृक्षादीनामारोपणं घटपटसद्मादीनां निर्माणं च प्रतिदिनं मनुष्याः कुर्वन्ति । इयमेव सर्वा मानुषी वा मैथुनी सृष्टिरिति । तत्र सर्वस्थावरजङ्गमानामुत्पत्तौ चत्वार्येव प्रधानकारणानि—यथा—ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः । ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथेति सुश्रुतस्य शारीरस्थाने । एषां चतुर्णामेकदेशे संयोगएव मैथुनं कर्म तेन मैथुनेन कर्मणोत्पन्ना सृष्टिर्मैथुनीत्यभिधीयते । नतु केवलानां स्त्रीपुरुषाणां संयोगएव मैथुनमपितु स्त्रीपुरुषशक्त्योः संयोगो मैथुनं तच्च सर्ववस्तूनामुत्पत्तौ भवत्येवेति मैथुनीत्वं सर्वस्याः । यूकामक्षिकमत्कुणादेर्वृक्षौषधिवनस्पत्यादेश्चापि मैथुनपूर्विकासृष्टिरित्युक्तं भवति । बीजस्य पुंस्त्वं पृथिव्याश्च स्त्रीत्वं तयोः संयोगो मैथुनं तेन प्रकटा मैथुनी सृष्टिः । यूकामक्षिकमत्कुणादीनां सूक्ष्मजीवेभ्यः